श्रीमद्भृत सूक्ति मञ्जूषा

आचार्य श्री शिवप्रसाद वशिष्ठ कृत

संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित



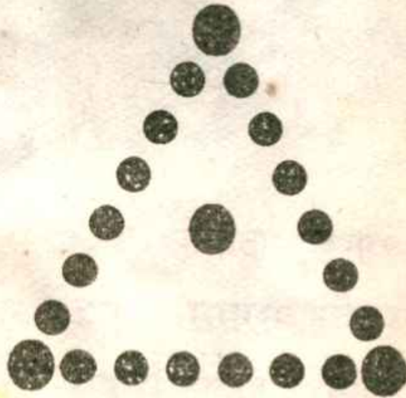
॥श्रीः॥

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहिम-आचार्य

श्रीमदमृतवाग्भवप्रणीता

श्रीमदमृतसूक्तिमञ्जूषा

(आचार्य श्री शिवप्रसाद वाशिष्ठ कृत संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहिता)



प्रकाशक

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जनता कॉलोनी, जयपुर।

पुस्तक प्राप्ति स्थान —
श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान,
बी- ३१४, जनता कॉलोनी, जयपुर

मूल्य — १५१/- रुपये

संस्करण : (प्रथम) २००० ई.

मुद्रक :
रसकपूर प्रिन्टर्स,
दीनानाथजी की गली, जयपुर

॥श्री गुरुःशरणम्॥

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र महामहिम श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य महोदय



गुरुः श्री श्रीपादाम्बुजभवपरागांजनवती
दृगात्मानं द्रष्टुं समरसशिवैश्वर्य महिमाम् ।
विशालं सामर्थ्यं सपदि लभते कापि रुचिरा
नमामस्तां वामो विधिरपि सदा पूजयति याम् ॥

हे नाथ ! हे करुणावरुणालय ! ! हे परम आत्मन् ! ! !
निज सूक्ति सुधा से ही निजार्चन करें स्वीकार !

॥श्रीः॥

पुरोवाक्

यह अत्यन्त हर्षप्रद है कि प्रखर राष्ट्रवादी रससिद्ध कवि, साधना शिखरारूढ़ तान्त्रिक, साधक एवं योगी, स्वतन्त्रता सेनानी तथा समाज एवं संस्कृति के श्रेयःसाधन के लिये जीवने समर्पित करने वाले पुण्यश्लोक मनीषि ब्र. श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य की एक और दुर्लभ एवं अमूल्य काव्यकृति **अमृतसूक्तिमंजूषा** जयपुर स्थित संस्थान की तत्परता के फलस्वरूप प्रकाश में आ रही है और वैदुष्यपूर्ण विस्तृत संस्कृत व्याख्या और हिन्दी भाष्य सहित आ रही है। श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य का रहस्यमय व्यक्तित्व बहु-आयामी था, उनका कृतित्व एक व्यापक फलक का स्पर्श करता था तथा उनकी कर्मभूमियाँ भी भारत के अनेक प्रदेशों में फैली हुई हैं। सोलन (शिमला) में भी उनके द्वारा स्थापित संस्था है, भरतपुर और दिल्ली में भी। उन्होंने तान्त्रिक उपासनास्त्रोतों की टीकाएँ भी लिखी है, प्रखर राष्ट्रवादी काव्य और ग्रन्थ भी।

उनका लिखा **राष्ट्रालोक तथा सप्तपदीहृदयम्, परशुराम स्तोत्र** आदि काव्य कुछ दशक पूर्व प्रकाशित हुए थे। सोलन स्थित उनके स्वाध्याय केन्द्र से **श्रीस्वाध्याय** नामक त्रैमासिक पत्र स्वनामधन्य पं. हरदेव त्रिवेदी के सम्पादकत्व में अनेक वर्षों तक प्रकाशित होता रहा था। इसके बाद कुछ दशकों तक उनका कोई नया प्रकाशन सामने नहीं आ पाया। किन्तु यह अत्यन्त सन्तोष का विषय रहा कि **राष्ट्रालोक** औरा स्वोपज्ञ संजीवन भाष्य जयपुर संस्थान द्वारा दो भागों में प्रकाशित हुआ। उनके यशःशरीर को सुरक्षित रखने वाला संस्थान स्थापित हुआ और प्रकाशनों का क्रम पुनः चल पड़ा। उसी क्रम में उनका यह सुललित और गम्भीरार्थगर्भ काव्य अब हमारे हाथों में है।

चूंकि अमृतवाग्भवाचार्य स्वतन्त्रतासेनानी भी थे, योगी भी, तान्त्रिक-साधक भी और रससिद्ध कवि भी, अतः उनका कृतित्व इन सभी पक्षों को प्रतिबिम्बित करता है। उन्होंने कुछ स्तोत्र उसी तान्त्रिक और शैवागम की पृष्ठभूमि को लेकर लिखे हैं, राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रीयता और प्रखर राष्ट्रवादी चिन्तन का आधार लेकर "राष्ट्रालोक" आदि विमर्शात्मक पद्यबद्ध शास्त्रकल्प ग्रन्थ लिखे हैं, साथ ही कविहृदयसुलभ भावनाओं तथा जीवनानुभवों को लेकर सुललित काव्यमुक्तक भी लिखे हैं, जिनका संकलन आपको इस मंजूषा में मिलेगा।

सूक्तिमुक्ताओं की इस मंजूषा में विविध छन्दों में, विविध भावभूमियों और विविध विषयों से संबद्ध ५५ मुक्तक संग्रहीत हैं। इनमें भावुक रहस्यात्मकता भी है, सुन्दर सूक्ति

सुलभ सदुपदेश और परामर्श भी, सुललित काव्यवात्मकता से लबालब सरस अभिव्यक्तियाँ भी, छन्दोबद्ध शब्दचमत्कार भी। इन मुक्तकों में आचार्यजी का कवि अपनी पूरी सरसता के साथ प्रतिफलित हुआ है, अतः इस काव्यसंकलन का अपना महत्त्व है। अमृतवाग्भवजी हिमालय से लेकर दक्षिण भारत तक प्रत्येक प्रान्त में निःसंगभाव से मुक्त विचरण करते हुए वर्षों तक देश भर में घूमते ही रहे थे। अनेक शिष्यों और भक्तों को उन्होंने प्रेरित और उपकृत किया था। अपने गहन अनुभवों को जब जब उन्होंने काव्यबद्ध करना चाहा तो ऐसी मुक्तक रचनाओं ने जन्म लिया। इस वैविध्य का नमूना इनमें देखा जा सकता है।

शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार का सहकार पैंतीसवें पद्य में देखा जा सकता है, जिसमें कवि इस युगीन विडम्बना का संत्रास प्रस्तुत करता है कि आज कौवे कोयल की कूक को कटु बताकर उसे नीचा दिखने पर तुले हुए हैं।

कलितकलिकलानां कल्पिताङ्क खलानां
कलयत कविलोकाः कौतुकं कीदृगेतत्।
कविकुलकलिताभिः कीर्तनीयां कलाभिः
कटु कथयति काकः काकलीं कोकिलानाम्॥

इसमें 'क' का अनुप्रास प्रत्येक पद के आरम्भ में देखते ही बनता है। छन्दों की विविधता तो इस मुक्तक-संकलन की अपनी पहचान ही बन गई है। अनेक छन्दों में कवि ने नये नये प्रयोग किये हैं। व्याख्याकार ने स्थान स्थान पर छन्दों की पहचान बताकर उनके लक्षण लिखे हैं, किन्तु कहीं तो इतने विलक्षण छन्द हैं कि व्याख्याकार को लिखना पड़ा है कि यह विविध छन्दःप्रस्तरों में से कोई नया ही प्रकार है (देखिये तेरहवाँ पद्य)।

अप्रस्तुत प्रशंसा की तरह का रूपात्मक भावभूमि पर बना एक शब्दचित्र छायावादकालीन विशिष्ट शैली में अनेक रहस्य अपने गर्भ में छिपाए हुए है जो संस्कृत साहित्य में अभिनव प्रयोगों की श्रेणी में रखा जा सकता है। अट्ठाईसवें पद्य में कवि एक असहाय, मुग्धा कुलवधू की यह भावोक्ति निबद्ध करता है — **सूरज डूब चला है, नाव जर्जर है, नदी गहरी है, उफन रही है, उस पार गाँव जाना है, यह नाविक भी एक अबोध किशोर है, मैं हूँ एक असहाय अबला। क्या करूं, कैसे पार लगूं।** अब इस रूपक में आप एक से एक गहरे रहस्य खोजते जाइये। वही किया है व्याख्याकार ने भी। मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहना चाहता। आप स्वयं ही इसे पढ़ देखें।

इन मुक्तकों में कहीं आत्मकथात्मक रुझान है (पद्य सं. ८, ३४), कहीं 'राष्ट्रालोक' के से चिन्तन-फलक पर राष्ट्रहित की अभिव्यक्ति है (पद्य सं. ३०, ४३), कहीं पराम्बा की स्तुति है (पद्य सं. ४९)। किन्तु अधिकांश पद्य सच्चे अर्थों में काव्यात्मक मुक्तक हैं। एक

पद्य में कवि यह भी कहता है कि स्वान्तःसुखाय लिखे गये मेरे ये पद्य पारखियों को पसन्द आ जाते हैं तो इनका उद्देश्य पूरा हो जाता है, नीरस, अज्ञजनों को पसन्द न आएं तो आश्चर्य क्या है? (पत्र सं. ४०)। यह पद्य कवि संस्कृत काव्य परम्परा के सुदीर्घ अनुशीलन का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। इसमें कवि ने तुलना भी इस प्रतिमान से की है कि अबोध शिशु जिस प्रकार ललना सौन्दर्य का पारखी नहीं हो सकता, उसी प्रकार अबोध पाठक काव्य सौन्दर्य को नहीं समझ सकता। यह प्राचीन पद्य भी इसी भावभूमि का है जो अप्पयदीक्षित आदि काव्यशास्त्रियों ने उद्धृत भी किया है —

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरस पुरुषानादरभरैः ।
यथा यूनस्तद्वत् परम रमणीयापि तरुणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ॥

इसमें भी वही शिखरिणी छन्द है।

एक दो पद्यो में कूटश्लोक की तरह आचार्य अमृतवाग्भव ने प्रछन्न प्रहार करते हुए आज की आपाधापी की ओर संकेत किया है (जैसे पद्य सं. ४३)। व्याख्याकार ने उन पद्यों में सारी गुत्थी खोलने का प्रयत्न करते हुए विशद निर्वचन द्वारा कवि के हृद्गत भाव समझाने की सफल चेष्टा की है।

जैसा कि विद्वद्वर पं. शिवप्रसाद वासिष्ठजी की संस्कृत भूमिका में स्पष्ट किया गया है, इन मुक्तकों में से २८ पद्य काशी की 'सूर्योदय' नामक मासिक पत्रिका में **सूक्तिलहरी** शीर्षक से तथा शेष २७ उसी पत्रिका में **सूक्तिमंजरी** शीर्षक से बहुत पहले प्रकाशित हुए थे। तदनन्तर इनका न तो पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ, न प्रसार। उन पद्यों की सूर्योदय से फोटोप्रति करवा कर पं. वीरेश्वर शर्मा ने उन्हें वासिष्ठजी को दिखलाया तथा टीका लिखने की प्रार्थना की।

वासिष्ठजी न केवल स्वयं परिनिष्ठित विद्वान् हैं, बल्कि आचार्य अमृतवाग्भवजी के सान्निद्ध्य में भी रह चुके हैं और उनके मनोभावों से पूर्णतः परिचित हैं। उन्होंने सपरिश्रम इन पद्यों की दोनों भाषाओं में व्याख्या की, जो आपके हाथों में है।

वासिष्ठजी में वैदुष्य के साथ काव्यकला कुशलता भी है, यह बात समर्पण, धन्यवाद आदि के प्रसंग में उनके द्वारा रचित पद्यों से स्पष्ट होती है। उन्होंने न केवल संस्कृत पद्यों में ऐसे प्रासंगिक भाव अभिव्यक्त किये हैं, अपितु हिन्दी में भी एक दोहा लिखा है।

उन्होंने संस्कृत व्याख्या तो पहले लिखी, तदनन्तर हिन्दी व्याख्या भी सामान्य पाठकों के हितार्थ लिखी, यह उनके संस्कृत वक्तव्यों से स्पष्ट होता है। इस प्रकार अमृतवाग्भवाचार्य

के ये उत्कृष्ट सूक्तिमुक्तक "सटीक" ढंग से सटीकरूप में पाठकों के सामने पहुँच रहे हैं, यह हर्ष और सौभाग्य की बात हैं।

जैसा इस विवरण से स्पष्ट हो गया होगा, यह हम सब के लिए और भी अधिक हर्ष और सौभाग्य की बात रही कि इस उत्कृष्ट काव्यकृति की व्याख्या करने के लिए बुलन्दशहर के विद्वान्, मार्मिक पर्यवेक्षण और शास्त्रज्ञान के धनी साहित्यकार मनीषी आचार्य शिवप्रसाद वासिष्ठ उपलब्ध हो गये, जिन्होंने आचार्य अमृतवाग्भवजी के हृदय के निकट रहकर प्रत्येक पद्य का आन्तरिक भाव, उसकी व्यंजनायें, गहरी काव्यात्मकता, छन्द और शैली की विशिष्टता सभी संस्कृत में भी समझाते हुए विस्तृत टीका लिखी है और सारे रहस्य, व्यंजनाएं, विशिष्टताएँ और संदर्भ समझाते हुए हिन्दी की व्याख्या लिखी है। इन भावार्थदीपिका नामक व्याख्याओं का अपने आप में मौलिक महत्त्व भी है।

इस अमूल्य काव्यकृति को प्रकाश में लाकर संस्कृत काव्य भाण्डागार का, सुधी काव्यरसिकों तथा मनीषी पाठकों का, **श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान,** जयपुर ने जो उपकार किया है, उसके लिए इसके समस्त पदाधिकारी एवं सहयोगी-बन्धु बधाई के पात्र हैं।

देवर्षि कलानाथ शास्त्री,
राष्ट्रपति सम्मानित विद्वान्
निवर्तमान —अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी,
पूर्व निदेशक, भाषा विभाग एवं
संस्कृत शिक्षा, राजस्थान सरकार।

निवास
सी-८, पृथ्वीराज रोड,
जयपुर ३०२ ००१

॥श्रीगणेशाम्बागुरुभ्यो नमः॥

भावाञ्जलि

दिव्यान् सिद्धान् मानवांश्च गुरून्गुरूपरम्पराः।
सर्वेषां पादुकाश्चाहं वन्दे वाक्काय मानसैः॥

निश्चित ही धन्य हैं पाठकवृन्द, जिनको यह '**श्रीमद्अमृतसूक्तिमञ्जूषा**' प्राप्त होगी, जिसे इसके प्रणेता सन्त कविवर श्रीमद् **अमृतवाग्भवाचार्यश्री** ने लोक कल्याण भावना से "करुणाप्रावृडम्भोद" चित्त-युक्त हो, लोकार्पित किया, पाठक-वृन्द उन्हीं के शब्दों में उनका स्नेहानुग्रह स्वीकार करें—

स्वनिर्मितानां सूक्तिनां मंजूषैषा विदां करे।
समर्पयति सस्नेहमाचार्योऽमृतवाग्भवः॥

ये सूक्तियां एक ऐसे कवि की सूक्तियाँ हैं, जो श्रीमद्भगवद्गीतोक्त—

कविं पुराणनानुशासितारमणोरणीयां समनुरस्मरद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्य रूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥(८/९)

"कवि" को जीवन के तारुण्य में ही सिद्ध कर चुका था, जिसका अन्तर्बाह्य स्वरूप-प्रकाश-विमर्श, शिव-शक्ति सामरस्य, लीलाविलास, रास-महारास का चलता-फिरता मञ्च था। चलता-फिरता ऐसा रस सागर था, जो सघन निर्विकल्प समाधि से भागीरथीवत् उद्गत था। जो विश्राम करता तो समाधि के गिरिराज की अन्तःगुहा में अपने ही आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता था और जब कर्म-प्रवृत्त होता था, सहस्रार से कल-कल कलरव करती रस-गंगा सा प्रतीत होता था। प्रतीत यों कि आनन्द-आस्वादन के लिये सुधि सम्भालने का सायास यत्न करना पड़ता था, अन्यथा सावधान न रहें तो उस कवि की आत्मीयता, कविता, रसविसुध कर देती थी।

"रसो वै सः" (तैत्तरीय उपनिषद्) को सिद्ध किया हुआ **"रसं होवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति"**– इस प्रकार रसपूर्ण रहता कि जरा बहिर्मुख हुआ कि रस छलका। कवि (आत्मा),

रस (ब्रह्मानन्द) काव्य (ब्रह्मानन्द सहोदर अमृत) को सिद्ध संगीतकार की तरह विभिन्न गत-वीथियों में सानन्द विहार करता हुआ अपने मूल नाम वैद्यनाथ से अमृतवाग्भव की कथा-यात्रा के वृतान्त से अपने चारों ओर वृत्ताकार बिन्दु-सा, सौभाग्यबिन्दु-सा निजात्म-चैतन्यालोक-अमृत को मौन-मुखर विधाओं से वितरित करता रहता था। आचार्य श्रीअमृतवाग्भव नाम था उस दिव्य अमृतवाङ्मय का, जो व्याकरण की दृष्टि से था, सूक्ष्म दृष्टि से है और सदैव रहेगा।

जिस किसी ने उन सन्त से, उन कवि से आत्मीयता, अपने अन्तर के किसी भी स्तर पर, साधी उसका स्वगत अनुभव है कि वे **"स्मर्तृगामी"** थे, हैं और रहेंगे। वे स्मरणात् सन्तुष्ट होते थे, हैं और रहेंगे। आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहते हुए भी उनकी आत्मीयता इतनी गहरी थी कि सर्वजनहिताय, बहुजनहिताय इतना बड़ा वाङ्मय रच गए कि जिससे सम्पृक्त होकर सुधी पाठक उनकी सामीप्यता अनुभव करते हुए स्वयं 'कवि' सायुज्यता को चाहे-अनचाहे प्राप्त होंगे, यह निश्चित है। कब, कैसे ? तब, जब वे स्वयं पर ऐसा स्वानुग्रह करने का संकल्प करें।

प्रिय पाठकों से निवेदन हैं कि श्रीमन्त ! उपरोक्त भाव-वचनाञ्जलि में तनिक भी अतिरञ्जना नहीं है, वे स्वयं अनुभव करें। आचार्यश्री का मुक्त आमन्त्रण हैं, उन्हीं के शब्दों में—

कामाद्वा रोषाद्वा लोभादथवा भयाच्च मोहाद्वा ।
पीयूषह्लद-पतितं किं वा कुर्यान्मृतिर्वशगम् ॥

ऐसा नहीं है कि सिद्ध वे ही हुए हैं, और कोई नहीं। सामान्यतः सिद्ध अपनी रस-गंगा तो साथ ले ही जाते हैं, अपनी विद्या भी साथ ले जाते हैं, कि प्रकट करने पर कहीं विद्या अन्तर्धान न हो जाए, कहीं ऐसा करने से स्वयं अहंकार ग्रस्त न हो जायें, या फिर इस डर से कि कहीं कोई विद्या का दुरुपयोग न कर बैठे। किन्तु आचार्यश्री का वाङ्मय ऐसे दुराव, भय से सर्वथा मुक्त हैं और अक्षरशः आर्ष कोटि का है, जिसमें अवगाहन करने से संशयात्मा को भी मुक्तआनन्द-लाभ निश्चित है और दुरुपयोग सम्भव ही नहीं है, यही आशय है, दावा है उक्त सूक्ति का। एक एक सूक्ति अपने आप में सागर है। अवगाहन करें, नौका कैसी भी जीर्ण हो, मांझी कैसा भी अबोधगोप हो, पीयूष-ह्द में उतरिये तो सही, स्वयं सागर अपनी नौका को ऊर्जस्वित कर, आपका मांझी बनने को तैयार है, तो विचार कैसा !

शुभम् ! श्रीगुरुःशरणम् !

सियाराम गर्ग
मन्त्री

पं. दुर्गादत्त शर्मा
अध्यक्ष

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृति शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर।

●

॥श्रीगणेशाम्बागुरुभ्यो नमः॥

पूज्यपाद आचार्य श्री - एक परिचय

जन्माङ्क

जन्मलग्न जन्मस्थान-प्रयाग नवांशलग्न





वि.सं. १९६०, आषाढ शुक्ल दशमी शुक्रवार, चित्रा नक्षत्र चतुर्थ चरण, धनुर्लग्न ३३ घटी ३ पल पर जब दशमी प्रारम्भ हो चुकी थी। तदनुसार ३ जुलाई, १९०३ ई.।

आषाढ शुक्ला दशमी वि.सं. १९६० को महाराष्ट्र के वरकल वंशीय काशी अधिष्ठित द्विजश्रेष्ठ प.पू. श्रीकृष्णशास्त्री जी को प्रथम सन्तति के रूप में कुलतारक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। आचार्यश्री का मंगलोच्चारण नाम वैद्यनाथ रखा गया। आचार्यश्री के मातामह प.पू. श्रीवेणीरामजी वैरूलकर प्रयाग के सुविख्यात वैदिक विद्वान थे। जन्म के समय आचार्यश्री की मातुश्री श्रीमती राधादेवी प्रयाग में अपने पितृगृह में थीं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के दो अतिपूज्य पुण्यक्षेत्रों — प्रयाग और काशी से आचार्यश्री का रक्तसम्बन्ध रहा। प्रयाग जन्मभूमि थी तो काशी कर्मभूमि। प्रयाग अमृत का प्रतीक है तो काशी विद्या की और आचार्यश्री के मूल नाम वैद्यनाथ का प्रथम वर्ण 'वै' भी अमृत और सारस्वत ('व' = अमृत + ऐ = सारस्वत मन्त्र) सिद्धि का प्रतीक है, जो अपनी विकसितावस्था में अमृतवाग्भव नाम से अभिहित हुआ। आचार्यश्री द्वारा रचित वाङ्मय के अवगाहन से पाठक आराधना, साधना, तत्त्वज्ञान, लोक व्यवहार एवं राष्ट्रभक्ति के एक ऐसे पुंजीभूत व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय पाते हैं, जो आचार्यश्री के रूप में आर्ष कोटि के ब्रह्मर्षि के दर्शन कराती है।

बालरत्न वैद्यनाथ को तीन माह की अत्यल्प आयु में मातृवियोग से साक्षात् होना पड़ा। भार्यावियोग पर शिशु-ममत्व व कर्तव्य बोध भारी पड़ा और पिताश्री को शिशु पालनार्थ दूसरा विवाह करना पड़ा। माता सौ. रुक्मिणी देवी ने बालक वैद्यनाथ को मातृस्नेह प्रदान करते हुए भ्रातृ-सुख भी दिया। बालक वैद्यनाथ के लघु भ्राता का नाम रामचन्द्र था।

पिताश्री श्रीकृष्णशास्त्री संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होने के साथ-साथ फारसी और अंग्रेजी में भी धाराप्रवाह गति रखते थे। काशी राजकुमार के शिक्षक थे, तत्कालीन राजनेताओं पण्डित मोतीलाल नेहरू, महामना पं. मदनमोहन मालवीय और काशी के विद्वद् जगत में वर्चस्व रखते थे, एक ओर वैदुष्य और सम्पन्नता तो दूसरी ओर परम पावन विनय और परोपकार की प्रतिमूर्ति थे।

उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक वैद्यनाथ को पारिवारिक परम्परा से प्राप्त श्रीविद्या की दीक्षा अपने पिताश्री से ही प्राप्त हुई। इस प्रकार पिताश्री ही उनके विद्या-गुरु थे। पंचस्तवी और मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा रचित श्रीत्रिपुरास्तोत्र का तन्मय पाठ उनका नित्य नियम था, जिसकी कृपा से उन्हें महामुनि दुर्वासा की अत्यन्त दुर्लभ कृपा प्राप्त हुई, जिसके फलस्वरूप महाराजयोग की शाम्भवी दीक्षा स्वयं गुरुराज भगवान दुर्वासा से प्राप्त हुई और समुच्चयस्वरूप योग-योगेश्वर श्रीकृष्ण से सतत् अनुग्रह प्राप्त होता रहा। आचार्यश्री को समय-समय पर यथावश्यकता लोकोत्तर दिव्य विभूतियों से भी प्रत्यक्ष ज्ञान-लाभ होता रहा। परम् अनुभव, आत्मतत्त्व के प्रति निष्काम निष्ठा और साधना के प्रताप से युवावस्था में ही आत्मसाक्षात्कार सिद्ध हो गया था।

किन्तु इस सबसे पहिले, तीन वर्ष की अल्पायु में मातृवियोग के पश्चात् बारह वर्ष की अल्पावस्था में पितृवियोग का वज्राघात भी सहना पड़ा वैद्यनाथ को, और पारिवारिक दायित्व का गुरुतर भार वहन करना पड़ा।

गुरुजनों के मध्य अपनी विलक्षण प्रतिभा और मातृस्नेह के प्रसाद से उनकी शिक्षा-दीक्षा और लालन-पालन में कोई विशेष व्यवधान नहीं हुआ। वैद्यनाथ के मन में माता-पिता के प्रति भक्ति इतनी सघन थी कि कहा नहीं जा सकता। उनकी रचनाओं के मंगलाचरण में जो स्तुति श्लोक उपलब्ध हैं, उनमें पिताश्री श्रीकृष्ण और माताद्वय राधा-रुक्मिणी व अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण और श्रीद्वय की स्तुति वे अद्वय भाव से करते रहे।

बाल्यावस्था से ही उनकी मेधा विकसित थी और लोकोत्तर कृपा से उत्तरोत्तर विकास पाती रही, जिसके प्रताप से सभी परीक्षाओं में विशिष्ट श्रेणी के साथ उत्तीर्ण होते रहे। व्याकरणाचार्य के अतिरिक्त विविध विषयों में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। उनकी उच्च शिक्षा क्वीन्स कॉलेज (जो अब संस्कृत विश्वविद्यालय है) में महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज के प्राचार्यत्व में हुई। डाक्टर साहब व अन्य आचार्य युवक वैद्यनाथ के प्रति अगाध स्नेह रखते थे। वहीं पर कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों पर शोध की और उनका सम्पादन किया। आचार्यश्री

ने जिन ग्रन्थों का शोधपूर्ण सम्पादन किया, उनमें प्रमुख हैं — वृत्तरत्नाकर की नारायणीय टीका, शुद्धिचन्द्रिका, नवरात्र-प्रदीप, अधिकरण-कौमुदी, त्रिपुरा-रहस्य (ज्ञानखण्ड)।

वि.सं. १९८५ (सन् १९२८ ई.) मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया से आचार्यश्री आजीवन विभिन्न पुण्यक्षेत्रों का परिव्रजन करते रहे। आचार्यश्री का वाङ्मय दिव्य निधि हैं : **श्री देव्यास्तोत्रम्, महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्रीपरशुरामस्तोत्रम् श्री महानुभवशक्तिस्तोत्रम्, श्रीमदमृतस्तोत्रसंग्रह, श्रीपरमशिवस्तोत्रम्, श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्, श्रीसिद्धमानवदर्शनम्, श्रीदेशिकदर्शनम्, श्रीकविराजगोपीनाथाभिनन्दनम्, श्रीआत्मविलास, श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्रीसिद्धमहारहस्यम्, श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्रीसिद्धमहामन्त्रमयी शिवप्रार्थना, श्री संजीवनीदर्शनम्, श्रीराष्ट्रालोक (श्रीराष्ट्रसंजीवनभाष्यसहित), श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका, श्रीमद्मृतसूक्तिमञ्जूषा, श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्रीवरकलवंशवृत्तकाव्यम्, श्री चारुसंदेश प्रभृति।**

आचार्यश्री महत् कोटि के आप्त योगी थे। उनकी वाणी उस शिखर से निसृत होती थी जो आर्ष कोटि में आता है, जो वेद की श्रेणी में आता है। आत्मलब्ध आत्मदर्शी आचार्यश्री का वाङ्मय स्वयं उनके लिए भी एक बार मुखर होने पर असंशोधनीय होता था, तब किसी और के लिये तो ऐसा करना व्यर्थ एवं अनर्थ है ही! किन्तु लौकिक पंडितम्मन्यता प्रेरित आग्रहचेष्टा सर्वथा अग्राह्य ही नहीं है, विस्मय का विषय है। एक दिव्य दर्पण सा उनका वाङ्मय तो आत्मदर्शन के निमित्त सर्वसुलभ है। इस विषय में आचार्यश्री का स्वयं अनुभव प्रमाण है— स्वरचित "प्रभो! शम्भो!!" श्लोक में आचार्यश्री को व्याकरण-दोष की शंका उपस्थित हुई और निराकरणार्थ संशोधन करने को वे जैसे ही उद्यत हुए, तत्काल एक दिव्य ऋषि प्रकट हुए और बोले श्लोक अतिशुद्ध एवं सुन्दर व स्तुत्य है, साथ ही व्याकरण की दृष्टि से उपस्थित शंका का भी, समीक्षा से, निराकरण कर गये। उक्त श्लोक को आचार्यश्री ने सिद्धमहामन्त्र की संज्ञा दी, जिसके जप से अनेकों को सांसारिक व आध्यात्मिक लाभ होता रहा है।

पाठकों! उक्त श्लोक हैं —

प्रभो! शम्भो!! दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयो -
र्भवारण्यादस्माद् विषमविषयाशी विषवृतात्।
समुद्धृत्य श्रद्धा विधुरमपि बद्धादरकरं,
दयादृष्ट्या पश्यन्निजतनयमात्मी कुरु शिव !

शुभम्! श्रीगुरुः शरणम्!

सियाराम गर्ग — मन्त्री

पं. दुर्गादत्त शर्मा — अध्यक्ष

श्रीमदऽमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृति शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर।

●

संक्षिप्त संस्कृत व्याख्याकर्तुरिदं नम्र निवेदनम्

वैदिक साहित्ये सूक्तानामिव लोकसाहित्येऽपि साहित्यकार-प्रतिभा-प्रसूत सूक्तीनामस्ति सर्वातिशायि महत्त्वम्। यतस्ता लोकोपयोगि परमोपादेय बोधदिशि सततमनिर्वाप्य ज्योतिर्दनिन मणिदीपशिखेव सहृदयजनमनांसि चमत्कुर्वन्ति। प्रकरणबद्धकाव्येषु यत्र-तत्र सन्निवेशितास्ताः प्रतिभावतां मानसाह्लादं जनयन्त्यः काव्यसुषमां समेधयन्ति। स्वल्पकाया अपि ताः स्वतः सर्वतः पूर्णा लोकदृष्टं व्यवहार्यमव्यवहार्यं वा भूयांसमर्थं स्वस्मिन् दधाना लौकिकालौकिक वस्तुबोधेप्सु पाठकेभ्यः सद्यः परनिर्वृतिमर्पयन्ति। अतस्ताः सत्कवि कृत सूक्तयः काव्यजीवातु भूताः सर्वत्र रसस्यन्दिनि वाङ्मये जयन्ति।

संक्षेपतोऽत्र मया व्याख्यातायाः सूक्तिमञ्जूषायाः प्रणेतारः-स्वनामधन्याः सारस्वत रसप्रवाहवारां निधयः शास्त्रमर्मज्ञाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्र धियो महीयांसः श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यचरणाः प्रसादीकृत सूक्तिव्यूहमाध्यमेन साहित्यसेविजना नन्वग्रहीषुरिति ते वन्द्य पादाम्बुजा अतितरा स भाजनीयाः। बहुकाल पूर्वं मया केवलं तेषां मतिमतां विद्वन्मूर्धन्यानां भव्यदर्शनसुखमेवानुभूतं, न तु तदीय मुखाम्भोज विनिर्गत वागमृतं कर्णरसायनीकृतं, दुर्भाग्यमूल सौविध्यसंयोगाभावात्। इदानीं समये, श्रीमदाचार्यपादप्रणीत सूक्तिमञ्जूषा व्याख्यापिकर्तुं प्राप्स्यते इत्यहं न कदाप्य वेदिषम्। "यद्भावि तद्भवतीति" तदर्थमदृष्ट संयोगप्रेरितोऽस्मत्प्रियोदेश्यः प्राचार्य वीरेश्वर शर्मा कतिपय मासपूर्व, 'सूर्योदय', संस्कृतपत्रिकातश्छाय।चित्रितानां श्रीमदाचार्यरचित सूक्तिपद्यानां चाक्षुष प्रत्यक्षमकारयत् भृशमाग्रहीच्च मां तद्व्याख्यां विधातुम्। जरा व्याधिवशीकृतोऽहं लेखनादि कार्येष्वक्षमोऽपि तदनुरोधं विफलयितुं नाशकमिति तदनुरोधादेव सम्प्रति यथासौविध्यं यथामति सूक्तिपद्यानामर्थं विभाव्य तानि संक्षिप्त संस्कृतव्याख्यया योजयितुं प्रयते।

'जीवितस्य कवेराशयो न वर्णनीयः', इति महाजनोद्बोधन वचो विभृशन्निदानीं विसृष्टलीलाकलेवरेषु, महापण्डितेषु, स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितेषु सत्सु श्रीमद्धृतवाग्भवाचार्य चरणेषु, तत्प्रणीतसूक्तिमञ्जूषागत सूक्तिपद्याशय विभावनाय, निर्वरोधपथमवाप्य तदुक्तसूक्ति पद्यव्याख्याने ममेदं प्रयासमात्रमेव। याथार्थ्य वेदिनस्तु त एव श्रीमदाचार्यपादाः स्वसूक्तीनाम्।

प्रायो यथा प्रकरणबद्ध काव्य व्याख्यायां प्रसङ्गसन्दर्भादीनां सुस्पष्टतया सौकर्यं जायते, न तथा सूक्तिपद्य व्याख्यायाम्। तत्र स्वतन्त्रतया प्रति सूक्तिसन्दर्भ प्रसङ्गाशयार्थयोजने विशेषेणावधानं दातव्यं भवति, तासां परस्परम सम्बन्धात् स्वस्मिन्नेव च पूर्णत्वात्। शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् यादृगर्थ विभावनं मनसि जातं तादृशमेव सूक्तिपद्यव्याख्यासूपनिबद्धम्। श्रीमदाचार्यपाद विरचित सूक्तिपद्य व्याख्यामाध्यमेन तेषामांशिक सेवावसरो मया लप्स्यत् इति भावनया वाक्पुष्पाञ्जलिरूपेण तदीयमेव वस्तु तेषां पादसरोज युगले समर्पयितुं यथासामर्थ्य प्रयस्यते।

सूक्तिमञ्जूषागतसूक्तिषु २८ सूक्तिपद्यानि पुराकाले सूक्तिलहरीतिनाम्ना 'सूर्योदये', संस्कृतपत्रिकायां प्राकाश्यं नीतानि। तदनु तत्रैव सूक्तिमञ्जरीति शीर्षकेण २७ सूक्तिपद्यानि प्रकाशितानि। इत्थं सम्मेल्य पञ्चपञ्चाशत्संध्य सूक्तिपद्यानि श्रीमदाचार्यपादैः स्वकृत सूक्तिमञ्जूषायां निहितानि। पूर्वोक्तं सूक्तिलहरीमञ्जरीति नामद्वयं विलोप्याचार्यैः सम्पिण्डित सूक्तिसमुदायस्य सूक्तिमञ्जूषेति नाम स्वीकृतम्। अस्माभिरपि तदेवादृत्य सूक्तीनां संक्षिप्त संस्कृतव्या.ख्या प्रस्तूयते।

तत्रानवधान प्रमादादिदोषवशात् मानुष्यक स्वभावसुलभास्त्रुट्योऽपि सम्भाव्येरन्, ताश्चावश्यं क्षमादानपूर्वकं समाधास्यन्ते विज्ञपाठकवर्यैरित्याशास्ते।

शिवप्रसादो वासिष्ठः
नरौरा (बुलन्दशहर) उ.प्र. वास्तव्यः

साधुवाद !

श्रीमदमृतसूक्तिमञ्जूषा की सूक्तियाँ वाराणसी की प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका **सूर्योदय** (जुलाई-अगस्त, १९६८) में प्रकाशित हुई थीं। श्रीराष्ट्रालोक-श्रीराष्ट्रसंजीवन भाष्य के दो अंकों का प्रकाशन कार्य चल रहा था कि संकल्प उदित हुआ— सूक्तिमञ्जूषा की मूल संस्कृत सूक्तियों की संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या करने की व्यवस्था हो सके तो इनका स्वाध्याय लाभ सर्वसाधारण भाषा-भाषी एवं संस्कृतज्ञों को एक समान मिल सकेगा। इस निमित्त पूज्यपाद आचार्यश्री के अभिन्न पं. गोविन्दजी मिश्र के भागिनेय आचार्य श्री वीरेश्वर शास्त्रीजी से चर्चा हुई और उनके सद्प्रयास से नरवरवासी व्याकरणाचार्य पंडित प्रवर श्री शिवप्रसाद जी वाशिष्ठ का अनुग्रह प्राप्त हुआ। संस्थान की ओर से उनके सर्वविध कल्याण की कामना करते हुए विशेष आभार अर्पित करता हूँ।

माँ भारती के वरद् पुत्र विद्वदर देवर्षि पण्डित कलानाथ जी शास्त्री के प्रति मैं अनिर्वचनीय आभार अनुभव कर रहा हूँ, जिनके पुरोवाक् से पुष्पायित यह सूक्ति-मञ्जूषा पाठकों को सस्नेह अर्पित हैं।

इसके अतिरिक्त अपने आत्मीय बन्धु एवं आचार्यश्री के परम् भक्त राव सुरेन्द्रसिंह को विशेष आशीष, जिनके सम्पादन-सहयोग के विना इस संस्करण का प्रकाश में आना प्रायः असम्भव ही था।

मैं अन्तरतम से आभारी हूँ। संस्थान के मन्त्री श्री सियाराम जी गर्ग का भी जिन्होंने सपरिवार अन्तरंगता एवं एकनिष्ठ भाव से इस पुस्तक के प्रकाशन में अमूल्य योगदान किया है। आचार्यश्री का उन्हें विशेष अनुग्रह प्राप्त हो !

श्री गुरुःशरणम् !

पं. दुर्गादत्त शर्मा

अध्यक्ष

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर।

आषाढ़ शुक्ला दशमी,

गुरुवार, विक्रम सं. २०५६।

श्रीमदऽमृतसूक्तिमञ्जूषा

संक्षिप्त संस्कृत व्याख्या विहिता सरला पुरा।
भावार्थदीपिका हिन्दी व्याख्या प्रस्तूयतेऽधुना॥

अमृतवाग्भव सूक्तिचयगत भावार्थ विचार।
तदनुग्रहवश ही करहुं निज लघु मति अनुसार॥

श्री साम्बसदाशिवः शरणम्।

वाचामाचार्याणममृत वाग्भवाभिधान महितानाम्।
वचन सुधाम्बुधिमध्यादुद्गत सत्सूक्तिवीचीनाम्॥
मत्यनुसारं सरलां कुरुते संक्षिप्त संस्कृत व्याख्याम्।
वीरेश्वरानुरोधात् शिवप्रसादो मुदे सुधियाम्॥

आदर्शो महिलानां प्रशस्त विद्यालयो देवी।
मुग्धस्निग्ध-मितस्मित वन्दित-वदना सरस्वती जयतु ॥१॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये— श्रीमदाचार्यपादैर्वागधिष्ठात्रया: श्रीसरस्वतीदेव्या महोत्कर्षमभिधाय तच्चरणयोर्ध्वन्यमाना स्वप्रणतिरर्पिता। तेन नमस्कारात्मकं ग्रन्थादौ मङ्गलमाचरितम्। दण्डान्वयमुखेन व्याख्या—

महिलानां धर्मपरायणभारतीय सन्नारीणां सन्मार्गमादर्शयतीत्यादर्शो मुकुर:, मुकुमानन्दं राति ददातीति, दर्पणो वा। प्रशस्तानां सर्वोत्कृष्टानां विद्यानां, पुराण, न्याय, मीमांसादि चतुर्दश विधानामुपवेदान् चतुर: सम्मेल्याष्टादशविद्यानां, वा आलयोऽधिष्ठानम्, यद्वा सर्वासां विद्यानामासमन्तात् लयो विलयो भवति यत्र सा ब्रह्म विद्या सर्वोत्कृष्टा 'सा विद्या या विमुक्त्ये', इत्युक्तत्वात् ब्रह्म विद्या स्वरूपिणी सरस्वती, ब्रह्मविचारसार परमेति तत्स्तवे निर्देशात्। तथा च मुग्धेन मनोहरेण स्निग्धेन हृदयावर्जकेन मितस्मितेन ईषद्धास्येन वन्दितं सेवितं वदनं मुखं यस्या: सा तादृशी, प्रसन्न वदनेत्यर्थ:। सरस्वती वाचामधिष्ठात्री देवी, कवि भारती वा जयतु, सदा सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्। अत्र सरस्वत्युत्कर्ष बोधपूर्वकं स्वापकर्षबोधमूला: प्रणतिराक्षिप्यते जयतु पदेन। तेन तां प्रणतोऽस्मीत्यर्थलाभात् ग्रन्थारम्भकालिकं नमस्कारात्मकं मङ्गल पद्यमेतदिति विभावनीयम्। यद्यप्यत्र सरस्वत्या: सर्वकालमुत्कर्ष सत्त्वात् जयतीति क्रियापदमपेक्ष्यते न तु जयत्विति, तथापि मदुक्त-सूक्ति सरस्वतीरूपेण पाठकानां चेतसि नित्यदास्वोत्कर्षमाविष्करोत्विति जयतु पदेनाचार्यपादानामाशय: प्रतिभाति। अत्र सरस्वत्यामादर्श- विद्यालयत्वारोपात‌द्रूपकमलङ्कार:। आर्योद्गीतिर्मात्रावृत्तञ्च। आर्याशकलद्वितयं व्यत्ययरचितं भवेद्यस्याम्। सोद्गीति:किल कथिता तद्वद्यत्यंश भेद संयुक्ता-इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— श्री आचार्य पाद ने इस सूक्तिपद्य के द्वारा वागधिष्ठात्री श्रीसरस्वती देवी के महान उत्कर्ष का वर्णन करते हुए सारस्वत महाकवि होने के नाते मङ्गलाचरण के रूप में स्वप्रणति अर्पित की है तथा श्री सरस्वती देवी को महिलाओं का आदर्श बताकर भारतीय सन्नारियों को विशेष शिक्षित होने का संकेत भी दिया है।

उन समस्त वाङ्मयाधिष्ठात्री सरस्वती देवी की सदा जय हो, जो भारतीय धर्मपरायण महिलाओं के लिये परम आदर्शरूप हैं। शब्दब्रह्म रूपा होने के कारण समस्त प्रशस्तिविद्याओं– पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षाकल्प व्याकरणादि षडङ्ग, वेद तथा उपवेदों का शाश्वत निकेतन हैं। सुन्दर सुप्रभ मन्द मुस्कान से जिनका मुख सदा सुशोभित रहता है। ऐसी सरस्वती देवी भारतीय विद्वत्समाज में, तथा सदाचरण परायणा नारी समाज में सदैव अपना वर्चस्व बनाये रहें। इस सूक्तिपद्यार्थ में ध्वन्यमान स्वप्रणति के साथ श्री आचार्यपाद, सरस्वती के तीनों विशेषणों से भारतीय सन्नारी को सरस्वती के गुणों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, ऐसा परामर्श भी देते हैं जो इस प्रकार समझा जा सकता है— श्री सरस्वती के माला-पुस्तक-वीणापाणि स्वरूप से क्रमशः महिलाग्राह्य आदर्श की अभिव्यक्ति, माला से- भारतीय व्रतपर्व पूजाजपाद्यनुष्ठान का आदर्श, पुस्तक से– व्रत पर्व माहात्म्य सत्कथा श्रवण वाचन का आदर्श, वीणा से - उत्सव समारम्भ संस्कार समारोह तथा भगवद्‌भक्ति रसपूर्ण गीतवाद्यादि के समायोजन आदर्श, एवं प्रशस्त विद्यालय पद से– धर्म-ब्रह्मवादिनी-मदालसा, गार्गी, आत्रेयी, मैत्रेयी आदि के समान ज्ञान गरिमा के प्रकाश का आदर्श। मुग्धस्निग्ध-मितस्मित वन्दित-वन्दना, विशेषण से– भारतीय कुलीन नारियों को सदा सुप्रसन्नवदन रहना चाहिये, अपने परिवार में कभी भी क्रोध, कर्कश स्वभाव अप्रियभाषण, कलह, क्लेश का वातावरण उपस्थित न करें। अन्यथा पूरे परिवार के सुखमय आन्तरबाह्य स्वास्थ्य का विनाश सम्भव हो जायेगा। कहा भी है — **यस्य भार्या विरूपाक्षी कश्मला कलहप्रिया, वचनोत्तरवक्त्री च सा जरा न जरा जरा, इति।** अर्थात् - क्रोधावेश के कारण रक्तनेत्रवाली, अनिष्ट चिन्तन करने वाली, कलहकारिणी, निरन्तर अनुचित अशिष्ट ढंग से बोलने वाली स्त्री अपने युवा पति को भी जरावस्था से भी अधिक स्वास्थ्यहीन बना देती है। अतः वह जरावस्था से भी अधिक जितनी अनिष्टकर सिद्ध होती है, उतनी जरावस्था नहीं। अतः पृथ्वी के समान क्षमाशीलता ही नारी का विशेष गुण माना गया है। ज्ञानवती, सुशील, प्रतिभाशालिनी स्त्रियां ही अपनी सन्तान को साधुसन्मार्ग दर्शन करा सकती हैं**—मातैव प्रथमोगुरुः।** अपने पतिपुत्रादिकों को धर्मनीति नियन्त्रित रखना स्त्री की सफलता, तथा रत्ना के द्वारा तुलसीदास के समान, मदालसा के द्वारा अलर्क के समान अविद्याग्रन्थि बन्धनोन्मुक्त कर देना स्त्री की सार्थकता कही गई। इन्हीं गुणों के कारण स्त्रियाँ समाज में समादरणीय होती हैं। इस प्रकार श्री आचार्यपाद ने श्री सरस्वती देवी के विशेषणों द्वारा भारतीय धर्म परायण नारियों का जीवनादर्श प्रस्तुत कर दिया है। क्योंकि स्त्रियाँ ही रीढ की हड्डी के समान समाज का आवश्यक अंग होती हैं**—नारी नारी सब कहें, नारी नर की खान। नारी से नर ऊपजे ध्रुव प्रहलाद समान॥** श्री आचार्यपाद ने सूक्तिगत महिला पद से भी संकेत दिया हैं कि स्त्रियों को नित्योत्सव मंगल समारम्भ कार्यों में रुचि रखनी चाहिये– **महिं नित्योत्सव पूजन प्रसन्नतां लाति गृहणातीति महिला।** सूक्तिमञ्जूषा के आरम्भ में यह प्रथम सूक्ति, सरस्वती वन्दनात्मक मङ्गलाचरण तथा नारियों के आदर्श परिगणन के रूप में लिखी है।

भवभीति भञ्जनपरं भरणीया भोगभारभरणचणम् ।
भवतु भविकाय भवतां, भवसौभाग्यं भवोद्भासि ॥२॥

व्याख्या— भवसौभाग्यं, भुवो नित्यसत्तार्थमभिलक्ष्य-भवतीति भवः, नित्यसत्ता कोऽनादिमध्यनिधनः शिवः, यद्वा- अन्तर्भावितण्यर्थमादाय भावयति लीलया जगदिति भवो महेश्वरस्तस्य सौभाग्यं महैश्वर्यं पराम्बा महाशक्तिरूपं, तेन विना शिवस्य प्रभुत्वमेव न स्थिरम्, "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् इति आचार्य श्रीशङ्करभगवत्पादैरपि समर्थितम्, तदेव पार्वतीरूपेण भवसौभाग्यम्। यद्यपि शक्तिशक्तिमतोरभेदेन तयोरद्वैतेऽपि काल्पनिक भेदमुररीकृत्य परस्परमन्योन्यस्यान्योन्य सौभाग्यमेव, तथापि शाक्तसम्प्रदायानुसारं प्राधान्येन विश्वात्मिकायाः सर्वशक्तिस्वरूपायाः पराम्बिकाया एव भवसौभाग्यत्वमास्थायाचार्य पादास्तदेव क्रमेण सविशेषं विशेषणैः प्रतिपादयन्ति। कीदृशं तत् भवसौभाग्यमिति जिज्ञायाम्- भवभीति भञ्जन परं, भवति उत्पद्यते जनन मरणादि क्लेश भीतिप्रदः संसारो भवस्तदुद्भवाया भीतेः, प्रतीतिपर्य-वसायितापत्रय भयस्य भञ्जने विनाशकरणे परं परायणं सततोद्युक्तम्, भोगमोक्षयोस्तदायत्तत्वात्। पुनश्च- भरणीयस्य पोष्यस्य आभोगभारस्य अनन्त ब्रह्माण्ड प्रपञ्चस्य भरणेन धारण पोषणादिकार्य जातेन वित्तम सुखऽातम्, तेन वित्तश्चुञ्चणपौ, इति चणप् प्रत्ययः। जीवानां नित्यं वृत्तिदानकर्मणि व्यापृतमित्यर्थः। पुनश्च- भवस्य जगत उद्भासः प्रतिभासो यत्र येन वा तत्तादृशं भवोद्भासि पार्वतीरूपमिति। सा महेश्वरी जीवान् भवबन्धने पातयत्यपि तथोन्मोचयत्यपि यथाधिकारम्। "ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति," इति। तत्श्च-

"सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये, इति वचन प्रामाण्यात्। यद्वा भवे अर्धनारीश्वर विग्रह शिवेवामाङ्गरूपेणोद्भासः प्राकट्यं यस्य तत् तादृशं भवसौभाग्यं भवतां सूक्तिपाठकानां शक्त्युपासकानां वा भविकाय अभ्युदय मङ्गलाय सुख समृद्ध्यै भोगमोक्षावाप्त्यै वा भवतु कल्पताम्। अत्र मकारवर्णानुप्रासः शब्दालङ्कारः। शेषः सरूपोऽनुप्रासः, इति काव्यालङ्कारसूत्रात्, उदात्तमर्थालङ्कारः। उदात्तं वस्तुनः सम्पदिति तल्लक्षणात्। वृत्तमत्रार्याभिधं मात्रावृत्तम् —आर्या प्रथमे पादे द्वादश मात्रा स्तथा तृतीयेऽपि। द्वादश पुनर्द्वितीये चतुर्थके पञ्चदशमार्या, इति तल्लक्षणात्।"

भावार्थ— महामहिम श्री आचार्यपाद ने प्रथम सूक्तिपद्य द्वारा मङ्गलाचरण रूप से सरस्वती स्तवन करते हुए भारतीय सन्नारियों का जीवनादर्श प्रस्तुत किया है। इस द्वितीय सूक्तिपद्य द्वारा शाक्त सम्प्रदायानुसार सूक्तिमञ्जूषा के पाठक जनवर्ग के शुभ मङ्गलाभ्युदय की कामना से सर्वाद्या जदम्बिका भवानी के परमोत्कर्ष वर्णन पूर्वक उनका शुभाशंसन चाहा है– चराचर भूतभावन, भवापरपर्याय, भगवान शिव के अचल शाश्वत सौभाग्य स्वरूप भगवती भवानी आप सभी सूक्तिपाठकों का कल्याण करें। लौकिक पारलौकिक अभ्युदय निश्रेयस सिद्धि का सदावर्त, सदैव, अपारकरुणामयी वात्सल्यरसमन्दाकिनी जगदम्बिका अन्नपूर्णा भवानी के द्वारा ही समस्त चराचर जगत् का प्राणिवर्ग प्राप्त करता है। इन्हीं शिवमहासत्तास्वरूप माता भवानी के निर्हेतु करुणाकटाक्षवीक्षण से क्षुत्पिपासाव्याधि जन्म जरा मृत्युरूप विविध सांसारिक महाकष्टों के भय से भक्तजन मुक्तिलाभ प्राप्त करते हैं। माता अन्नपूर्णा भवानी अनन्त ब्रह्माण्डवर्ती जीवसमुदाय के नित्य भरण पोषण कार्य के लिए विश्व विख्यात हैं। यह कार्य किसी अन्य के वश का नहीं। भगवान् शिव भी उन्हीं से भिक्षान्न प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं। अन्यथा— **स्वयं पञ्चमुखः पुत्रो गजानन षडाननौ, दिगम्बरः कथं जीवेत अन्नपूर्णा न चेद् गृहे।** स्वयं दिगम्बर पाँच मुखों से खाने वाले, दो पुत्र भी गजानन और षडानन– हाथी का मुख तथा लम्बोदर, छः मुखों से खाने वाले हैं, ऐसे बहुभोजी परिवार का भरण पोषण अत्यन्त कठिन होने पर भी यह भव (शिव) का सौभाग्य ही है कि अन्नपूर्णा भगवती भवानी सदा उनके घर में रहती हैं। इस प्रकार शिववामाङ्ग वासिनी सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्त्री शिव-महाशक्तिस्वरूपा भगवती भवानी, आप सभी सूक्तिपाठक महानुभावों को ऐहिकामुष्मिक सर्वलाभ प्रदान करती रहें।

कामाद्वा रोषाद्वा लोभादथवा भयाच्च मोहाद्वा।
पीयूषह्रदपतितं किं वा कुर्यान्मृतिर्वशगम् ॥३॥

व्याख्या— यथातथा कामलोभादिना क्रान्तोऽपि मर्त्यजनोऽमृतसरोवरे पतनादेव तत्रस्थामृत संस्पर्शादिव तत्कालममर्त्योभवति। यथा श्रूयते लङ्का समरे श्री रामाज्ञया- सुधावृष्टि भई दोउ दल मांहीं, जिये भालुकपि निशिचर नाहीं इति। राहुरपि श्रीविष्णुचक्र कर्तित शिरा अपि मृतिं नावापेति। परन्तु क्षीरार्णवोद्भूता मृतापेक्षया ब्रह्मात्मैक्य बोधामृतमवाप्यैवमर्थ्या अमृता जन्मजरामरणादि विमुक्ता भवन्तीति बोधयितुमेवात्राचार्यपादाः सूक्तिपद्यमिदं प्रस्तुवन्ति कामाद्वेति- यद्यप्यकाम हतस्यै मुक्तिलाभस्तथापि मुमुक्षां प्रति कामोऽप्यादर्तव्य एव। तदुक्तम् कामः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्युक्तं न शक्यं ते। मुमुक्षां प्रति कर्तव्यः सैव तस्यापि

भेषजमिति। अत एवोच्यते कामाद्वा, वेति विकल्पे। अत्र मुमुक्षा कामस्यैव ग्रहणम्। रोषाद्वा- विषय वैरस्यापातादसद्भोगान् प्रति औदासीन्याद्वा, भार्यादि कृतधिक्कृतिजन्य रोष पराभूत- गोस्वामि तुलसीदासवद्वा। अथ च - नश्वरशरीराद्यपेक्षया शाश्वत पदप्राप्ति लोभाद्वा। दुःख मूल संसारजन्य तापादि सम्भव भयाद्वा। मोहात्, वैचित्याद्वा, पीयूषह्रदे ब्रह्मानन्द सुधासरोवरे पतितं, मर्त्यमिति शेषः। मृति मृत्युः किमितिप्रश्ने, स्ववशगं स्वाधीनं कुर्यात्? न कथमपि इतिसमाधिगर्भः का क्वा प्रश्नः अजं नित्यं शाश्वतं पुराणं तं मृत्युर्नाधिकरोतीत्याशयः। अथवा साकभक्तभावनया श्रीरामामृतं सरः। गङ्गा, गायत्री, शिव, विष्ण्वादि देवतोपासनामृत सरश्चापि रुचिभेदा दूहनीयम्।"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।" इति वचनात् भक्तियोगेन परमेश्वरं यजतः पुंसः सकामस्यापि कामना भगवद्भक्तिरस प्रवाहे विलीयते न पुनरूदेति - यद्यपि प्रथम कामना रही, प्रभु पद प्रीति सरित सो बही इति। श्री रामं प्रति भक्त विभीषण वचनात्। कामेश्वरो भगवान भक्तानां कामाधारं रागमेव विनाश्य तदकामत्वमेव जनयति। ततस्ते सर्वद्या कामनिवृत्या मुच्यन्ते - यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि स्थिताः तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते, इति काठकवचनात्। समर्पणभक्तेरेष महिमा, यत् स्वयं भगवान् भक्तवत्सलो दुस्तर संसारसागरादनन्यभक्तान् समुद्धरति, स कदापि भक्तं न विस्मरति। तदर्थ स्वयं भगवदुक्तमिदं वचनं भक्तानां सम्बलम् - "ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाण सन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥ कफवातादिभिर्दोषैर्मद्भक्तश्चेन्न मां स्मरेत्। तस्य स्मराम्यहं नो चेत कृतघ्नो नास्ति मत्परः॥" इति भगवानकृतघ्नतादोषं वोढुं नार्हति। तत्प्रतिज्ञातमस्ति- न मे भक्तः प्रणश्यतीति। तस्मात् केनापि भावेन अमृतह्रदरूपं परमात्मानं निर्गुणं सगुणं वोपास्य संसारी जीवः कृतार्थतां प्रपद्यते- निर्गुणः सगुणश्चेति परमात्मा सनातनः। तयोर्भेदं न वै कुर्यात् यदीच्छेत हितमात्मनः इति। परमात्मोपासकं जनं भय प्रमाद भ्रान्तिमूलो मृत्युर्न स्पृशतीत्याचार्याणां सूक्तिपद्यतात्पर्यं विभावनीयम्। अत्र का क्वा किमिति प्रश्नस्य नेत्युत्तरस्योन्नयनादुत्तरालङ्कारः। यद्वा प्रसिद्धामृतापेक्षया ब्रह्मामृतरूपार्थस्य शब्दशक्तिमूलस्यातिशयवर्णनात्प्रतीपम्। पूर्वपद्यवदत्राप्यार्या वृत्तम्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने पूर्व दो सूक्ति पद्यों के द्वारा सर्वविद्याधिष्ठात्री सरस्वती तथा भोगमोक्ष प्रदायिनी जगदम्बिका भवानी की उपासना का सङ्केत देकर इस तृतीय

सूक्ति पद्य द्वारा यह आशय प्रकट किया कि मानव शरीरधारी जीव, अनादि अविद्यान्धकार पतित होकर परमात्म विस्मृति से अब तक त्रिताप पीड़ित तथा जन्ममृत्यु चक्र निगडित हो, परमार्थ भ्रष्ट हो रहे हैं। यदि उन्हें मृत्यु संसार सागर से पार होना अभीष्ट है, तो इस भगवत्कृपा से उपलब्ध दुर्लभ क्षणभङ्गर मानव शरीर द्वारा निर्गुण अथवा सगुणोपासना के बल से अविनाशी परमात्मतत्त्व की प्राप्ति करें। मानव शरीर धारण करने का प्रयोजन मुक्तिलाभ के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है।

भोग प्राप्ति तो पशु आदि के शरीर से भी हो जाती है। भोगप्राप्ति अज्ञान मूलक तथा मोक्षावाप्ति ज्ञानमूलक कही गई है — "ज्ञानवान मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः स्मृत" इति। यद्यपि ईश्वरांशभूत समस्त जीवसमुदाय को परमात्मप्राप्ति का समान अधिकार है, किन्तु अधिकार होने पर भी पशु पक्ष्यादि शरीरधारी जीवों में सद्सद्विचारानुकूल बोध शून्यता के कारण मोक्षाधिगम की योग्यता के अभाव से ये परमात्मतत्त्वप्राप्ति से वञ्चित रहते हैं। मानव शरीरधारी जीव को साधिकार योग्यता भगवत्कृपा से प्राप्त है। अतः मानव शरीर प्राप्ति, भवबन्धन से मुक्त होने के लिये ही हुई है, न कि सांसारिक भोगवासना पूर्ति के लिये। "इह चेदवेदी दथ सत्यमस्ति, इह चेन्नावेदीन्महती विनष्टिः" जो मनुष्य इस देव दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके भी परमात्म प्राप्ति नहीं कर लेता तो वह सांसारिक भोगरसाक्षिप्तचित्त वाला पुरुष अनन्त काल तक अविद्यान्धकूप पतित होकर अपना सर्वनाश कर लेता है, इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से यह सिद्ध है कि मानव शरीर का प्रयोजन मुक्तिलाभ ही है। अतः भयभीत पुरुष को जन्ममृत्यु कष्ट के अनवरत प्रवाह से बचने के लिये मोक्ष प्राप्ति की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसके विपरीत संसारी पुरुष उपनिषद्वचन के द्वारा पशुतुल्य कहे गये हैं। **गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा, न विचारो भवेत् चित्ते यस्यासौ मृग उच्यते।**" अर्थात् जिस पुरुष को चलते, उठते, बैठते, जागते, सोते रहने पर कभी सदसद्विवेक आत्मानात्म वस्तु विचार नहीं होता तो वह मृगपदोपलक्षित पशु तुल्य ही होता है और सदा ही मृत्युपाश में बधा रहता है - **मृगयते असद्विषय भोगानिति मृगः** – इस निरुक्ति से मृग पद यहाँ पशु का उपलक्षण है। अतः तादृश पुरुषों के लिये मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति यह वचन सङ्गत होता है। श्री आचार्यपाद की इस सूक्ति का यही आशय परिलक्षित होता है।

सूक्तिपद्य का सामान्य अर्थ - मानव देह प्राप्त करके पुरुष, काम, रोष, लोभ, भय, मोह इनमें से किसी भी कारण विशेष से ब्रह्मानन्द सुधा सरोवर में अवगाहन कर ले तो क्या उसे कभी भी मृत्यु अपने वशीभूत कर सकती है? काकुंध्वनि से ताल ठोक कर उत्तर— कभी नहीं कर सकती, क्योंकि उसे अनादि परम्परा से होने वाले मृत्यु भय से सदा के लिये छुटकारा मिल जाता है। अब यहाँ सूक्ति पद्यार्थ पर प्रासङ्गिक होने से विशेष विचार किया जा रहा है।

यद्यपि अकामहत पुरुष को ही मोक्षाधिकार प्राप्त है — **यदा सर्वे निवर्तन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः, तदामर्त्यो अमृतो भवति तदा ब्रह्म स मश्नुते।** इस श्रौत वाक्यानुसार सकाम पुरुष मुक्तिमार्गी नहीं होता। तथापि– **कामः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत त्यक्तुं न शक्यते। मुमुक्षां प्रति कर्तव्यः सैव तस्यापि भेषज** — इस संस्कृत वाक्योक्त मदालसा के वचनानुसार मुमुक्षारूप कामना ग्राह्य ही है। क्योंकि मुमुक्षा (मुक्तिकामना) परिणाम विरस आपातमधुर सांसारिक समस्त भोग्यपदार्थों के अभिनिवेश का निरास कर पुरुष को अकामहत ही बना देती है। प्रस्तुत सूक्तिपद्यगत कामपद से श्री आचार्यपाद का यही आशय प्रतीत होता है। अपमान जनित रोष भी आत्मग्लानि रूप निर्वेद का कारण होकर विषय वैरस्य प्रदान करता हुआ रत्ना के वचन से तुलसीदास जी के समान पुरुष को भगवदुन्मुख बना देता है। **श्रेयः प्राप्त्यर्थ निर्वेद** होना आवश्यक होता है।

रावण के द्वारा किये गये अपमान से रुष्ट विभीषण लङ्काराज्यप्राप्ति के लोभ से भगवान श्रीरामजी की शरण में आया, तो उसकी लोभमूलक प्रवृत्ति भगवद्‌भक्ति के रूप में बदल गई। स्वयं विभीषण की उक्ति, रामचरितमानस में है— **जद्यपि प्रथम वासना रही, प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।**

बालि के भय से सुग्रीव प्रभु की शरण में आया, तो उसका भय निर्भयता में परिवर्तित हो गया, और वह भगवान का प्रियसखा-भक्त बन गया।

मायामयी विश्वमोहिनी के सुन्दरतम रूपदर्शन से उत्पन्न, देवर्षि नारद का विषयविलास रसमोह भगवत्कृपा से उनके आजीवन संयत रूप में परिणत हो गया और वे सदा के लिये भगवद्गुण कीर्तन भक्त बन गये।

यद्यपि कामादि कलुषितान्तःकरण वाले पुरुष को उसका दुष्कृतकर्म प्रभु सान्निध्य प्राप्ति में अन्तराय उपस्थित कर देता है, तो भी भाग्यवश यदि उक्त कामादि किसी भी कारण विशेष से निर्वेदापन्न मानव भगवदुन्मुख हो जाय तो वह भगवान का कृपापात्र बन ही जाता है। **अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्य भाक्। साधुरेव समन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥** अर्थात्– कितना भी दुराचारी क्यों न हो, यदि किसी भी कारण विशेष से मेरी अनन्यता स्वीकार कर लेता है, तो वह श्रेयोमार्गावलम्बी होने से श्रेष्ठ पुरुष ही है। यह गीतोक्त भगवद्वचन प्रमाण है। भगवान् अपने अनन्य भक्त के सर्वदा सर्वात्मना संरक्षक हो जाते हैं तथा जन्ममृत्यु सङ्कट से बचा लेते हैं। **तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात्, इति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तःप्रणश्यति, इति च।** अनन्य भक्त भगवान को समर्पित हो जाता है तब उसके उद्धार का पूर्ण दायित्व भगवान् स्वयं संभाल लेते हैं, इस विषय में भगवान का प्रतिज्ञापत्र इस प्रकार है —

तत स्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाण सन्निभम् ।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम ॥१॥
कफवातादिभिर्दोषैर्मद्भक्तश्चेन्न मां स्मरेत् ।
तस्यस्मराम्यहं नो चेत् कृतघ्नो नास्ति मत्परः ॥२॥

अर्थात् म्रियमाणावस्था में काष्ठपाषाणाटि के समान अचेत भक्त को भगवान स्वयं स्मरण कर उसे परम गति प्रदान कर देते हैं। कफवातादि दोषों के उल्वण हो जाने पर संज्ञाशून्य भक्त, यदि मुझे स्मरण करने की स्थिति में नहीं भी हो, तो भी उस समय मैं स्वयं उसका स्मरण करता हूँ और उसे अभीष्ट उत्तम गति प्रदान कर देता हूँ। यदि मैं ऐसा न करूं तो मुझसे अधिक कृतघ्न कौन होगा कि जीवनभर जिसने मुझे स्मरण किया हो उसकी विपन्नावस्था में मैं उसे भूल जाऊं और असहाय छोड़ दूं, ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता। भगवान के स्वयं प्रतिज्ञात् वचन भक्तों के दृढ़विश्वास में सुनिश्चित रूप से सहायक हैं। अतः कामादि किसी भी कारण विशेष से परमानन्द सुधा सागर स्वरूप भक्ति भाव, से भगवान को समर्पित हो जाने वाला भक्त पुरुष, मृत्यु के वशीभूत कभी नहीं होता। श्री आचार्यपाद ने यही शास्त्रीय निर्धारण, इस सूक्तिपद्य द्वारा सूत्र रूप में कर दिया है।

शिवचरणं भजमाना यथा तथा वाऽपि सर्वथा रक्ष्याः।
करुणार्णवेन सततं शिवेन ते तथ्यमेतद्वै ॥४॥

व्याख्या– अत्र सूक्तिपद्ये- तृतीय सूक्तिपद्योक्त भाव भरित चेतोभिराचार्यपादैस्तदेव सुदृढीकृतम्। अकारण करुणो भगवान् भक्तवत्सलः शिवः सर्वदेवाधिदेवो महादेवः सर्वदोपास्यः। स हि मृत्युञ्जयत्वात् मार्कण्डेय प्रभृतीनल्पायुषोऽपि चिरजीविनश्चकार। नास्ति शिवसमः कोऽपि दुरृदष्टनाशकः। स केवलं विल्व दल जल चुलुकाभ्यामेव प्रसत्ति मे त्याशु तुष्यन् सर्वार्थान् ददाति। एकेन विल्वपत्रेण जलस्य चुलुकेन च, तोषितः श्री महादेवो वाञ्छितार्थं प्रयच्छति। शिवेन रक्षिता न क्वापि पराभूयन्ते इति शिवचरणोपासनमेव श्रेयस्करमिति सूक्तिपद्येनाचार्यचरण अभिदधते–

यथा तथा वापि– भगवति जीवस्य सर्वेऽपि सम्बन्धा नित्या एव तेषु कमप्यङ्गीकृत्य शिवचरणं भजमानाः सेवमानाः ये जना इति शेषः – पद्योत्तरार्धगत तत्पद सम्बन्धात्। ते जनाः शिवचरणोपासकाः करुणार्णवेन अपारदयासागरेण शिवेन सर्वथा सर्वात्मना सततं रक्ष्या भवन्ति, इत्येतद्वै तथ्यम्, न वितथमिति नात्र सन्देह लेशः। स हि भगवान मृत्युञ्जयाभिधो भक्तानां मृत्युं जयतीति सुस्थिरं

तन्नामसार्थक्यं सदा स्मरणीयम्। अत्र शिव कृत भक्तरक्षण कार्ये शिवस्य करुणार्णवत्वं हेतुः। अकारुणिको न रक्षति सेवितोऽपि तस्मादत्र करुणार्णवेनेति पदार्थ हेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते, इति तल्लक्षणात्। तथा च- तथ्य मेतद्धै इति प्रकृतस्थापनान्निश्चयालङ्कारः। आरोप्यमाणमुत्सृज्य प्रकृतस्थापनान्निश्चयः इति काव्यालङ्कारीय लक्षणात्। अत्राप्यार्यावृतं पूर्ववत्।

भावार्थ— पूर्वोक्त सूक्तिपद्यार्थ दर्शित भगवदुपासना के सम्बन्ध से उपासकों के निर्मल अन्तःकरण वैचारिक दृढ़ता लाने के लिये श्री आचार्यपाद ने यह सूक्ति प्रस्तुत की है।

सर्वेश्वर सर्वाधिष्ठान, भूतभावन, भगवान शिव के साथ जीवों के सभी सम्बन्ध नित्य, शाश्वत होते हैं। सांसारिक सम्बन्धों की भांति अनित्य, अस्थिर तथा काल्पनिक नहीं होते। इसलिये स्वरूपाभिन्न केवल औपाधिक भेद से भिन्न पूर्व सूक्ति प्रदिष्ट कामादि किसी भी सम्बन्ध से अविचल भक्ति भावना पूर्वक शिवचरणों की शरण ग्रहण कर लेता है तो उसको वन, रण, व्याधि, विपत्तिजन्य दुःखसङ्कटों से पराभूत नहीं होना पड़ता। भगवान् मृत्युञ्जय शिव अपने अनन्य भक्तों के समस्त आपतित मृत्यु कष्टों का निवारण कर देते हैं। भगवान श्री शिव अपार दया सागर, आशुतोष भक्तवत्सल हैं, इसमें किसी भी सन्देह लेश का कोई कारण नहीं है। श्रुति-स्मृति, पुराण, शैवागम, तथा उपमन्यु, मार्कण्डेय मुनि प्रभृति अनेक भक्तों के समुद्धृत ज्वलन्त उदाहरणों के प्रबल प्रमाण से यह असन्दिग्ध सत्य है कि भगवान श्री शिव अपने अनन्य भक्तों की सदा सर्वतोभावेन रक्षा करते हैं। उन्हें आत्मसमर्पण करके भक्त पुरुष सब प्रकार की बाधाओं से छुटकारा पा जाता है। पुराण सर्वस्य, विष्णु पुराण के वचन से भी यह तथ्य समर्थित है, कि मृत्युभयभीत पुरुष भगवान श्री शिव से किञ्चित्मात्र भी प्रपत्तियोग सम्बन्ध बना ले तो उसे यम यातना सहन नहीं करनी पड़ती — **ये मनागपि देवेशं प्रपन्नाः शरणं शिवम्। न ते घोरं प्रपश्यन्ति यमस्य वदनं नराः।** जिन सर्वदेवाधिदेव महादेव श्री शिव के समर्चन से सभी देवगण तथा चराचर जगत समर्चित हो जाते हैं, उनसे विमुख रहने वाले अथवा अन्य उपास्य देवता के पक्षपात के कारण शिव से द्रोह करने वाले, अज्ञ पुरुषों को जो पाप लगता है, उस पाप के निरासार्थ कोई भी प्रायश्चित्त धर्मशास्त्र में उपदिष्ट नहीं है। अतः पाप प्रमार्जन उस पुरुष के लिये अशक्य होता है। तथा– जो शिवानुरागीजन मङ्गलमय शिवनाम का जप करते हैं, उन्हें पूर्व कर्मार्जित पापनाश के लिये पृथक प्रायश्चित्त की कोई आवश्यकता नहीं होती, इसमें शास्त्र वचन प्रमाण है—

शिवद्रोहवतो लोके प्रायश्चित्तं न विद्यते।
शिवानुरागिणश्चापि प्रायश्चित्तं न वर्तते॥

शिवेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
तस्य भस्मीभवन्त्याशु महापातककोटयः ॥

अतः समस्त दुरदृष्टनाशपूर्वक भोग तथा मोक्ष चाहने वाले पुरुष के लिये शिवाराधन से बढ़कर कोई अन्य उपाय नहीं है। मुमुक्षु पुरुषों में अद्वैतवासना का उदय होना, भगवान साम्बसदाशिव के अनुग्रह का फल ही बताया गया है। **देवस्यानुग्रहादेव तरुणेन्दु शिखामणेः, अद्वैत वासना पुंसामाविर्भवति नान्यथा, अनुग्रहश्च देवस्य देव्या चिद्रूपया सह, यथावत तं परिज्ञाय ध्यायद्भिः समवाप्यते।** अर्थात् - चिद्रूपिणी महाशक्ति भवानी के सहित श्री शिव का स्वरूप ज्ञानपूर्वक ध्यान योग करने से ही बन्धमोक्षप्रद अद्वैतनिष्ठा प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा नहीं। कैवल्योपनिषद की श्रुति से भी यही समर्थित है। **उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्, ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्।** अर्थात् समस्त भूतभावन, सर्वदृष्टा, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सूर्यचन्द्राग्निलोचन, प्रशान्तात्मा भगवान साम्बसदाशिव का ज्ञानपूर्वक ध्यान योग से साधक पुरुष अविद्याग्रन्थि मोचन द्वारा अद्वैतनिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं। उक्त वचनों में ज्ञानपूर्वक ध्यानयोग का विधान बताया गया है। अतः शिव पद निर्वचन से संक्षेपतः शिवस्वरूप का विचार कर लेना भी प्रासङ्गिक होगा। तन्त्रग्रन्थ में शिवपद की निरुक्ति इस प्रकार की गई है — **हिसिधातोः सिंह शब्दो वशकान्तौ शिवः स्मृतः, वर्णव्यत्ययतः सिद्धौ पश्यकः कश्यपो यथा।** अर्थात् वर्णव्यत्यय से पश्यक शब्द जैसे कश्यप रूप में परिवर्तित हुआ है, वैसे ही हिसि हिंसायाम धातु से सिंह पद, वशकान्तौ धातु से शिव पद भी वर्णव्यत्यय से सिद्ध हो जाते हैं। वशकान्तौ धातु अदादिगण में तथा तुदादिगण में पठित है। अदादि वशकान्तौ में कान्ति कामनार्थक है। तुदादिगण में पठित है। अदादि वशकान्तौ में कान्ति कामनार्थक है। तुदादिक में कान्ति का अर्थ दीप्ति है। कामनार्थक वश धातु निष्पन्न शिवपद का अर्थ है। **इच्छाश्रय ईश्वर शिव।** इच्छा से जगत की सिसृक्षा का ग्रहण होता है **सो अकामयत एकोऽहं बहु प्रजायेय। स एकाकी न रमते द्वितीय मैच्छत,** इत्यादि श्रौत प्रमाण से सिसृक्षा रूप इच्छाशक्ति से सम्पन्न परमेश्वर शिव का ही बोध होता है। तौदादिक वशकान्तौ धातु से दीप्ति (प्रकाश) अर्थ में, वशति प्रकाशते, इति स्वयंप्रकाशः शिवः यह अर्थ ज्ञात होता है। अथवा- यस्मिन् जगत्प्रपञ्चं प्रकाशते - जिसमें अध्यस्तरूप से सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान होता है उस स्वयं प्रकाश परमेश्वर शिव के प्रकाश से ही सूर्यचन्द्रादि प्रकाशित होते हैं। **यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्, इति। अथवा शिव पद की सिद्धि शीङ्स्वप्ने, तथा वा गतिगन्धनयोः, इन दो धातुओं के संयोग से भी की जाती है। स्वप्नं जड़तां वाति क्षिपति- जड़तारहित सच्चिदानन्दरूप शिव, यह अर्थ अवगत होता है। अथवा स्वप्नमविद्यां वाति प्राप्नोति स्वेच्छया जगन्निर्मातुम् - जगत के निर्माण के लिये स्वप्नापरपर्याय अविद्याशक्तियुक्त शिव ही जगत के अद्वितीय स्रष्टा हैं। शिव तथा उनकी**

महाशक्ति दोनों का समन्वित रूप ही जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहार लीला का उद्गम स्थान है। इस विवेचन से शिव का स्वरूप, मुक्तिमार्ग में— शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्दमय प्रपञ्च मार्ग में, सृष्टि, स्थिति, संहारकर्ता कर्ममार्ग में, सकल देवतारूप भक्तिमार्ग में, अपारकरुणासागर, भक्तवत्सल, अवढरदानी, मृत्युभयभञ्जक, जागतिक-समस्तसुखप्रद, सर्वतोभावेन अनन्य भक्तों के प्रबल संरक्षक, आदि के रूप में सुस्पष्ट परिलक्षित होता है। ऐसे सर्वशक्तिसम्पन्न देवाधिदेव महादेव साम्बसदाशिव की समाराधना से भक्त व्यक्ति पूर्णतया सुरक्षित होकर ऐहिकामुष्मिक प्रेय तथा श्रेय को प्राप्त करके धन्य जीवन हो जाता है। इसमें सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं है, श्री आचार्यपाद ने सूत्र रूप में अपनी सूक्ति द्वारा उक्त विवेचित अर्थ पर प्रकाश डाला है।

राधार्या-गाथाया लावण्यच्छाययैव धृतकान्तिः।
जयति पतङ्ग विहारी पद्मोल्लासेन गगनतलम् ॥५ ॥

व्याख्या— एतत्सूक्ति पद्यगत राधापद सङ्केतेनैवाचार्य महानुभावानां मनीषितोऽर्थ इत्थं सम्भाव्यते- बकासुरलीला प्रसङ्गे करधृतसित बक पतङ्गस्य भगवतः श्री श्यामसुन्दरस्य सुषमां सितपद्मोल्लासेन नीलगगनतल मिवोत्प्रेक्ष्य, तै रालङ्कारिकसरणि रङ्गीकृतास्ति।

तथाहि—राधाभिधाया आर्याया या गाथा प्रशस्तिः, सर्वसद्गुणसम्पन्न सर्वाङ्गसुन्दरीत्वकीर्तिस्तद्वत्यास्तस्याः यथा राधाया गौराङ्गसौन्दर्यं तथैव तत्कीर्तेरपि विमलधवलत्वमेव। तल्लावण्यच्छाया, गौराङ्ग सौन्दर्य प्रतिबिम्बं, गौरवर्णस्यापि छाया श्यामवर्णैव पतति, तया राधालावण्यच्छाययैव धृता गृहीता कान्तिः कमनीय श्यामल वर्णो येन स तादृशः श्रीकृष्णः। वृषाभानुनन्दिन्याश्छायाया यादृशं सौन्दर्यं तादृशमेव श्रीकृष्णसौन्दर्यं श्यामवर्ण, न तु गौरवर्णराधासौन्दर्य सदृशमिति श्रीकृष्णादप्यधिक सुन्दरीत्वं श्रीराधाया ध्वनितम्। वस्तुतस्तु ध्रुवमात्मास्ति राधिकेति वचनात् तयोः सौन्दर्ये केवलं वर्णभेद एव, एकात्मत्वे नाभिन्नयोरपि। श्रीराधा गौराङ्ग रूपराशिरेव श्रीकृष्णश्च श्यामवर्णश्रृङ्गार रस एव साक्षात्। रूपरसयोरेकाधारत्वेऽपि वर्णभेद आत्मक्रीडायामङ्गीक्रियते। पतङ्गेन वकासुर पक्षिणा विहर्तुं शीलं यस्य स श्रीकृष्णः विदारीति पाठे तद्धन्ता श्रीकृष्णः पद्मोल्लासेन- स्वकरोल्लासित पद्मरूपेण पतङ्गेन, नलिननालिरूपेण च तच्चञ्चुपुटेनोर्ध्वमुल्लासितेन, स्वयं श्याम वर्णतया नील गगनतलमिव रेजे। यद्वा- गगनतल मिति कर्म। तेन विकसितार विन्दगगन तल साम्यमुपेत्य तादृशमुत्प्रेक्षितं

गगनतलं श्रीकृष्णे जयति। अत्र पूर्वार्धे असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः। परत्र च बकपक्षिणि पद्मत्वारोपात् श्रीकृष्णे गगनतलत्वारोपाच्च रूपकानुप्राणितोत्प्रेक्षा व्यंज्यते। इत्थं विच्छत्ति मितो भगवान् श्री श्यामसुन्दरो लोकरक्षायै बकासुरनिहन्ता जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति भावः। वृत्तमत्र पूर्ववदार्याभिधमेव। तल्लक्षणं प्रागभिहितम्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद के इस सूक्ति पद्य के दुरुह अर्थ की गवेषणा में राधा पद अधिक सहायक सिद्ध हुआ है, अन्यथा तदर्थ विचार का द्वार ही अवरुद्ध हो जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री आचार्यपाद ने बकासुर वध लीलाभिनेता भगवान श्रीकृष्ण की अद्भुत शोभा का गम्योत्प्रेक्षालङ्कार द्वारा वर्णन कर के श्रीराधाकृष्ण के चरणों में भक्तिभावना से प्रेरित अपनी स्मरण-भक्ति अर्पित की है।

भावार्थानुसन्धान इस प्रकार है—

मानों, वृषभानुनन्दिनी श्री राधाजी के सर्वाङ्ग सुन्दर गौराङ्ग लावण्य की छाया (प्रतिबिम्ब) से ही सुन्दर श्यामल वर्ण का आदान करके जो श्याम वर्ण के हो गये हैं, ऐसे भगवान श्रीश्यामसुन्दर ने बकासुर वध लीला नाट्यमञ्च पर खेल खेल में ही श्वेतवर्ण बक पक्षी को उसके चञ्चुचरण पकड़ कर आकाश में उठा लिया हो, और तब वे स्वयं श्वेत कमल युक्त नीलगगन के समान शोभायमान हो रहे हों। यहाँ, बक पक्षी में विकसित श्वेत कमल का, चञ्चु चरणों में नलिननाल का, तथा श्यामवर्ण श्रीकृष्ण में नील गगन का तल का सादृश्य उत्प्रेक्षित है। उड्डीयमान वकपङ्क्ति, नीलगगन में कमल पुष्पों के समान लोकदृष्ट होती ही है। सर्वाङ्ग सौन्दर्योपेत गौरवर्ण देह की छाया श्यामवर्ण की ही होती है, अतः गौराङ्ग सुन्दरी श्री राधाजी की श्यामवर्ण छाया से ही श्रीकृष्ण ने श्याम सुन्दरत्व ग्रहण करके अपने आप को श्यामसुन्दर बना लिया है। इसी भाव का एक बरवा छन्द तुलसीदास कृत 'बरवै रामायण' में उपलब्ध होता है, जिसमें श्री जानकीजी की सखियों की मण्डली में हास्य विनोद वार्ता का आनन्द ले रहे भगवान् श्रीरामजी से किसी चतुर सखी ने अपनी सखी सीताजी के सौन्दर्य को श्रीराम के सौन्दर्य से उत्कृष्ट सिद्ध करने की इच्छा से व्यंग्य कस दिया— **गर्व करहु रघुनन्दन जनि मन मांह, आपुन रूप निहारौ सिय की छांह** यद्यपि श्रीरामजी आप अनुपम रूप लावण्य की दृष्टि से तो श्रीसीताजी के अनुरूप ही हैं, किन्तु देहवर्ण भेद से आप श्रीसीताजी की कृष्ण वर्ण छाया के ही समान है। अतः आपको अपने सुन्दर स्वरूप का गर्व नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार श्रीआचार्यपाद ने श्रीराधाजी की छाया से श्यामवर्ण लेकर श्यामसुन्दर बने श्रीकृष्ण के रूपलावण्य से अधिक उत्कृष्ट श्री राधाजी का सौन्दर्य है, यह ध्वनित किया है। सूक्ति पद्य में बकविहारी पाठ से – बक से खेलने वाले, तथा बकविदारी पाठ से – बकासुर हन्ता श्रीकृष्ण यह अर्थ समझना चाहिये। वैसे रूपराशि का वर्ण गौर तथा श्रृङ्गार रस का श्याम वर्ण शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। श्रीराधाकृष्ण की युगल छवि में दोनों का ही समावेश है। उन्हीं दोनों का आनन्द लीलाविलास

ही रासलीला है। **रसो वै सः** रसं लब्ध्वा ह्येष आनन्दी भवति रसरूप भगवान श्रीकृष्ण का अपनी आत्माभिन्न रासेश्वरी श्री राधिकाजी के साथ रसानन्द सङ्ग्रहार्थ दिव्य अभिनय लीला ही रासलीला है। यह नृत्यशास्त्रान्तर्गत रासक नृत्य से भिन्न है। इसमें एक ही रसतत्त्व की अपने आप में, दिव्यरस निष्पत्त्यर्थ अलौकिक चिदानन्दमय विभावादि की कल्पना की गई है। इसके श्रवण मात्र से धीर पुरुषों की हृद्गत दुर्वासना नष्ट हो जाती है। **हृद्रोग माश्वपहिनोत्यचिरेणधीरः।**

विशेष— आचार्यश्री जब कभी किसी विद्या के अभ्यास में कोई भी कठिनाई उपस्थित होती थी तो वे भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना करते थे। श्रीकृष्ण स्वप्न-दर्शनादि के द्वारा उस कठिनाई को दूर करने का उपाय बता देते थे, जिससे वे बाधा-मुक्त हो, विद्या-अभ्यास में आगे बढ़ते थे। किसी शास्त्र के किसी सिद्धान्त के विषय में यदि उन्हें कभी कोई शंका होती थी तो उसे भी भगवान श्रीकृष्ण उसी तरह से दूर करते थे। आचार्यश्री श्रीकृष्ण को गुरुराज कहते थे।

आचार्यश्री के पिताश्री का नाम भी श्रीकृष्ण था। उनसे ही सावित्र मन्त्र और श्रीविद्या मन्त्र की दीक्षा ली थी। उन दोनों के अभ्यास से उन्हें सभी विद्याओं में साफल्य मिलता रहा। मातुश्री का नाम राधा था, और दूसरी माँ का नाम रुक्मिणी। इस भाव विशेष मे भी वह माता-पिता तथा गुरुराज का स्तवन अभिन्न भाव से करते रहे। आचार्यश्री द्वारा **अमृत स्तोत्र संग्रह** में गुरुराज श्रीकृष्ण स्तोत्रम् में किया गया निम्न स्तवन इसी अभिन्न-भाव का द्योतक है —

श्री राधिका—मुख — महोदधि — पूर्णचन्द्रं,
श्री रुक्मिणी-नयन-नीरज — चित्रभानुम् ।
संसार— रोग — हरणोद्यत वैद्यनाथात्मानं,
महागुरुमहं प्रणमामि नित्यम् ॥

अतः इस सूक्तिपद्य में भी आचार्यश्री ने गुरुराज और अपने माता-पिता का स्मरण राधा-कृष्ण से अभिन्न और एकात्मक सामरस्य भाव से किया है।- सं)

स्वभाविकी सुखेच्छा स्वतन्त्रताया ऋते न सुखलब्धिः।
स्वातन्त्रयस्य प्राप्तिः स्वत्वज्ञानं विना नैव ॥६॥

व्याख्या— **अत्र सूक्तिपद्ये- आचार्यपादाः —"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। एत द्विद्यात समासेन लक्षणं सुखदुःखयोरिति प्राचीन ग्रद्यार्थ मेव स्वसूक्तया विशदयन्ति —**

सुखेच्छा, दुःखासंसृष्ट सुख समीहा, स्वाभाविकी, नैसर्गिकी, प्राणिनां भवतीति शेषः किन्तु सुखलब्धिः सुखानुभवः स्वतन्त्रताया ऋते स्वातन्त्र्येण विना न भवति। स्वस्यात्मनस्तन्त्रतानुकूलता यत्र भवति तदेव सुखमिति भावः। अथ स्वातन्त्र्य लाभे को हेतुरिति जिज्ञासायामाचार्याः प्राहुः- स्वत्वज्ञानं विना, स्वस्यात्मनो भावः स्वत्वं, कोऽयमात्मेति तत्त्वबोधं विना स्वातन्त्र्य प्राप्तिर्नैव भवति। सांसारिक भोग वासनावश गतया स्वात्म विस्मरणेनात्यन्तिक दुःखनिवृत्ति पूर्वकं शाश्वत सुखोपलब्धिर्न जायते इति भावः। अत्रैवकारेण स्वातन्त्र्यस्य स्वत्वज्ञानकारणत्वे तदन्यतर कारणस्यात्यन्ता भावो बोध्यः। स्वत्वज्ञानेनैव स्वातन्त्र्य लाभो नान्यथेति भावः। कोऽहमस्मि कुत आयातः किमर्थमिति विवेकबुद्धि पूर्वकं— आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति परम्परयात्मकृपा, गुरुकृपा शास्त्रकृपा— परमेश कृपा पारवश्येनैव स्वत्वस्यात्मतत्त्वस्य ज्ञानं भवतीति शाश्वत सुखलाभाय सच्चित्सुखार्थिभिस्तत्र यतनीयमित्यनुशासनं श्रौतम्। ततश्च – साक्षात्कृत्वैवमात्मानं सर्वदुःखप्रणाश पूर्वकं सर्वतन्त्र स्वतन्त्रः पुरुषः स्वे महिम्नि महीयते, न स पुनरावर्ततेऽशाश्वतेऽत्र महादुःखालये जगत्प्रपञ्चे। इयमेव वास्तविक सुखोपलब्धिः। तत्प्राप्तिसाधनमेव ब्रह्मावबोधधिषणं मानुष्यकं नान्यदस्य किमपि प्रयोजनम् साधिकार योग्य त्वादस्येति शास्त्रीयो विचार आचार्यपादैः प्रस्तुत इति। अत्र विनोक्तिरलङ्कारः। विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रासन्न् नेतरः, इति काव्यप्रकाशे तल्लक्षणात्। पूर्ववदत्राप्यार्याभिध मात्रावृत्तमेव।"

भावार्थ— श्रीआचार्यपाद ने छठे सूक्तिपद्य के द्वारा जीने की सुखेच्छा पूर्ति के सम्बन्ध में साधन का विचार प्रस्तुत किया है—

प्रत्येक प्राणी को सुख प्राप्ति की सतत अभिलाषा बनी रहती है, तथा अहर्निश सुख प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयास भी करता रहता है। इस प्रकार सच्चित्सुख स्वरूप परमात्मा के, स्वरूपाभिन्न चिदंश जीव की दुःख निवृत्ति पूर्वक सुख प्राप्ति की अभिलाषा होना स्वाभाविक ही है। सुष्ठु खेभ्यः (इन्द्रियेभ्यः) प्रतीयेत तत्सुखम्, दुष्ठु प्रतीयेत तद्दुःखम्, इस निरुक्ति के आधार पर चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य, रूप रसादि विषयों का मन के अनुकूल लगना ही सुख है। तथा प्रतिकूल प्रतीत होना दुःख है। इस परिभाषित सुख दुःख के सामान्य स्वरूप से भी व्यक्तिगत विषमता देखने में आती है। सभी प्राणियों के सुख दुःख समान नहीं होते। किसी एक परिस्थिति में किसी को सुखानुभव होता है तो किसी दूसरे व्यक्ति को उसी परिस्थिति में दुःख की प्रतीति होती है। किसी को सुख में भी दुःख, किसी को दुःख में भी सुख, किसी सिद्ध महापुरुष को किसी भी परिस्थिति में न सुख न दुःख। अतः इस वैषम्य को ध्यान में रख कर सुख दुःख का कोई ऐसा लक्षण होना चाहिये, जो कि सामान्य रूप से सभी को

मान्य हो। भिन्नरूचिर्हि लोकः। इस तथ्य के अनुसार व्यक्तिभेद भिन्नरूचिभेद से ही प्राणियों में एक दूसरे से भिन्न, इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों की मनोनुकूलता या प्रतिकूलता होती है। अतः व्यक्तिभेदेन **आत्मनोऽनुकूल वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्।** इस प्रकार सुख दुःख का सर्वमान्य लक्षण स्वीकार किया है। प्रकृत सूक्तिपद्य में सुखेच्छा पद का स्वाभाविकी विशेषण दिया गया है जिससे उक्त विवेचन की सङ्गति हो जाती है। अब स्वभाव के प्रकृति रूप अर्थ से दो प्रकार की प्रकृति दृष्टिगोचर होती है— एक विषय रागमयी, तथा दूसरी विषयविरागमयी। दोनों ही दृष्टियों में अपने-अपने सुख दुःख भिन्न होते हैं, इस कारण सुखेच्छा मे भी भेद होना अनिवार्य है। सुख के दो भेद किये गये हैं— एक अशाश्वत सुख, दूसरा शाश्वत सुख। अशाश्वत सुख आगमापायी एवं दुःख परिणामी होता है। यही रागमयी प्रकृति के पुरुष द्वारा चाहा जाने वाला वैषयिक सुख है। वस्तुतः तो यह दुःख परिणामी, भ्रान्त्या प्रतीयमान होने से सुखाभास ही है, सुख नहीं। क्योंकि जो सुख अपनी सुखरूपता त्याग कर दुःखरूपता स्वीकार कर ले उसे सुख कैसे कहा जा सकता है, अर्थात् नहीं। इसीलिए विवेक-दृष्टि से वैषयिक सुख को त्याज्य बताया गया है—

वर्चस्कवदुपेक्षाविषया विषया इति।

शाश्वतसुख— 'विरागमयी प्रकृति वाले पुरुष के द्वारा इच्छित, अवैषयिक आत्मानन्दापरपर्याय स्वस्वरूपाभिन्न सहज सुख को शाश्वत सुख कहा जाता है। यह निर्विषय स्वाभिन्न सहज होने से दुःखपरिणामी नहीं होता। इसी सहज सुख की उपलब्धि, सांसारिक-विषय विरस विचारशील सदसद्विवेकी पुरुष चाहा करते हैं। अब सहज सुख हो या फिर वैषयिक सुख, ये दोनों ही पूर्णरूपेण पराधीनता स्वीकार नहीं करना चाहते "**पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।** तो भी अभीष्ट वस्तुस्नेहेतुक वैषयिक सुख में येनकेनापि प्रकारेण पराधीनता बनी ही रहती है। किन्तु सहजानन्दरूप शाश्वत सुख, देशकाल वस्तु आदि से अपरिच्छिन्न होने के कारण अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता में ही पूर्णरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसे पराधीनता लेशतोऽपि स्वीकार्य नहीं है। अतः यही भाव सुस्पष्ट करने के लिये श्री आचार्यपाद ने सूक्तिपद्य में कहा है— "**स्वतन्त्रताया ऋते न सुखलब्धिः**" —स्वतन्त्रता के बिना शाश्वतसुखोपलब्धि सम्भव नहीं होती। तो फिर स्वतन्त्रता की प्राप्ति कैसे की जाय। इस के उत्तर में श्री आचार्यपाद कहते हैं कि — स्वत्वज्ञान के विना स्वतन्त्रता की भी प्राप्ति सम्भव नहीं है। तथा "नैव, पद से वहाँ यह भी प्रदर्शित किया गया है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति में स्वत्वज्ञान अव्यभिचारी हेतु है। उपायान्तर का सर्वथा अभाव है। यहाँ स्वपद का अर्थ स्वयं आत्मतत्व ही है। उसके स्वरूप ज्ञान के विना स्वतन्त्रता खपुष्पायित है। अतः शाश्वत सुखाभिलाषी पुरुष, विवेक बुद्धि से यह जानकर कि— परवशता (देहगेहादि अनात्मवस्तु परतन्त्रता) दुःख है, तथा स्ववशता (स्वत्वज्ञानजन्य स्वतन्त्रता) सुख का साम्राज्य है, सच्ची लगन के साथ स्वत्वज्ञान की प्राप्ति करने का ही प्रयास करें। "मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, क्यों आया हूँ" इन प्रश्नों का यथार्थ समाधान, आत्मकृपा, गुरुकृपा शास्त्रकृपा परमात्मकृपा के बल पर प्राप्त कर लेने से स्वत्वज्ञान (आत्मतत्त्वज्ञान) प्राप्त

करना सम्भव हो जाता है। इसके लिये श्रवण मनन निदिध्यासन प्रक्रिया अनिवार्य साधन है। तभी नित्यशुद्धमुक्तस्वभाव सिद्ध अनिर्वचनीय शाश्वत सुखोपलब्धि होती है। विविधदुःख संसर्गासम्पृक्त सुख ही स्वाभाविक सहज सुख की संज्ञा प्राप्त करता है। उसे प्राप्त कर उत्तमा सहजावस्था की उपलब्धि हो जाती है, फिर जन्मजरामरण व्याध्यादि अज्ञानभासित समस्त दुःखसङ्कटों से सदा के लिये छुटकारा मिल जाता है। यही श्री आचार्यपाद तो इस सूक्ति का आशय समझना चाहिये।

व्यवहरतु जनः कथमपि नार्यो न्याय्यं जहाति पन्थानम् ।
अपि मृदितं मालत्याः कुसुमं पाणिं सुवासयति ॥७॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये— "न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा इति धर्मनीतिसारमाचार्यपादा अर्थान्तरन्यासेनाभिदधते—"

जनःसुजनः दुर्जनो वा कथमपि स्वेच्छया प्रकृतिवशगतया व्यवहरतु, लोके व्यवहारं कुर्यात किं तेन। परन्तु आर्योजनः आर्यत्व लक्षणलक्षितः पुरुषः विपदग्रस्तोऽपि सन्न्याय्यं न्यायोचितं सत्यधर्म परिष्कृतं पन्थानमार्यजनसेवित सन्मार्गं न जहाति न त्यजति। आर्य जनस्यायं दुरतिक्रमः स्वभावः। आर्यश्च "शान्तस्तितिक्षुर्दान्तश्च सत्यवादी जितेन्द्रियः। दाता दयालुर्नम्रश्च आर्यः स्यादष्टभिर्गुणैरित्यष्टगुणसम्पन्नः पुरुषः कथ्यते नान्यः केवलमार्यपदप्रख्यापकः कश्चित्। तदेवार्थान्तरेण समर्थ्यते- मालत्याः सुगन्ध कुसुमवल्लर्याः कुसुमं मृदितमपि करेण घृष्टमपिमर्दकस्य जनस्य पाणिं करं सुवासयति सुरमयति। इदमेव सुजनस्य सौजन्यं सर्वत्र श्लाघ्यम्। स अपकारिजनं प्रत्यपि साधु व्यवहरति।" उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते, इति भारतीय धर्मनीतिमार्ग उद्बोधित आचार्यैः स्वसूक्तिपद्यद्वारेति। अत्र सामान्यस्य विशेषेण समर्थनादर्थान्तरऽन्यासोऽलङ्कारः। अप्रस्तुतार्थ कथनात् प्रस्तुतार्थ साधुत्वावगतेरप्रस्तुत प्रशंसालङ्कारोऽपि तयोः संसृष्टिः। इदमप्यार्यावृत्तम् लक्षणं मुक्तं प्राक्।

भावार्थ— उक्त सूक्तिपद्य में श्री आचार्यपाद ने श्रुति सिद्ध सनातन धर्मानुगत लोक व्यवहारानुरूप सदाचरण परायण भारतीय आर्य सन्मानवों के स्वभाव का निरूपण सन्निदर्शन सूत्ररूप में किया है—

ऐसा प्रायः देखने में आता है कि आर्यजन सेवित धर्मनीति मार्गानुयायी, विमलान्तःकरण, सत्पुरुषों से, धर्म नीति निरपेक्ष भ्रष्टाचारी, दूषितान्तःकरण, असाधुजन द्वेषभावना

रखते हैं, **'मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या:'** दुर्मानव जैसे अपने दुःख भाव को नहीं छोड़ते, उसी प्रकार सज्जन भी अपने सत्स्वभाव का परित्याग नहीं करते, **स्वभावो दुरतिक्रम प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यतीति**। सभी प्राणी अपने-अपने स्वभाव से विवश होते हैं।

प्रकृति के साम्राज्य में सज्जन तथा दुर्जन दोनों ही एक दूसरे के अस्तित्व-परिचायक होने से आवश्यक होते हैं। यदि रात्रि न हो तो दिन के स्वरूप का ज्ञान, दिन न हो तो रात्रि का ज्ञान करना असम्भव ही होगा। इसी प्रकार सौजन्य-दौर्जन्य भी सज्जन दुर्जन मानवों के भेद का बोध करा देने में सहायक सिद्ध होते हैं। यद सज्जन तथा दुर्जन दोनों ही प्रकार के पुरुष न हों, तो शास्त्रबोधित सद्गुणों तथा दुर्गुणों के लोकदृष्ट सत् असत् व्यावहारिक भेद की जानकारी के लिये उदाहरण कहाँ से आयेंगे। जिस प्रकार निघर्षण, छेदन, भेदन, ताडन से उत्तम सुवर्ण की परीक्षा हो जाती है, ठीक उसी प्रकार दुर्जन कर्तृक कलह अप्रिय भाषण निन्दा प्रहार से आर्यगुण सम्पन्न सत्पुरुष की भी परीक्षा होती है। दुर्जन पुरुष के द्वारा अनेक सङ्कटमय परिस्थिति उपस्थित कर देने पर भी आर्यमानव अपने निर्भय सहिष्णु स्वभाव के कारण विचलित नहीं होते। **बूंद अघात सहें गिरि कैसे, खल के वचन सन्त सहें जैसे**। आर्यमानव अपने श्रुति शील सद्गुण सत्कर्मों के द्वारा लोक सम्मानित होकर भी निरभिमान बने रह कर धर्मानुरूप न्याय नीति के अनुसार लोक हितकर कार्यों को आजीवन करते ही रहते हैं। उनका परोपकारी जीवन, आकाशादि पञ्चमहाभूतों के समान एवं फलित पुष्पित लता वृक्षों के समान लोक हितकर कार्यों में ही बीतता है। **सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सभी के कल्याण मार्ग प्रशस्त हों, कोई भी प्राणी कभी भी दुःखी न रहें,** इस उदात्त भावना से आर्यमानव परमार्थ को ही अपना सच्चा स्वार्थ समझते हैं। ऐसे धन्य जीवन सत्पुरुषों को, कभी भी मनवाणी तथा शरीर से कुत्सिताचरण करने वाले परपीडक दुर्जन, सन्मार्ग से विचलित नहीं कर पाते। चाहे ये दुर्भावनापूर्ण कितना असद्व्यवहार क्यों न करें। समदर्शी विश्वबन्धु सन्मानव अपने अहितकर पुरुष का भी भला ही चाहते हैं, प्रतिशोध की भावना नहीं रखते। इसका निदर्शन श्रीआचार्यपाद ने सूक्तिपद्य में दिया है कि जैसे दोनों हाथों से मसल डाला गया मालती पुष्प, मसलने वाले के हाथों को अपनी सुगन्ध से सुगन्धित ही कर देता है, किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसी प्रकार आर्यजन धर्मपरिष्कृत न्याय्य मार्ग का परित्याग नहीं करते। आठ प्रकार के आर्यलक्षणों से लक्षित आर्यमानव, इस रत्नगर्भा भारत वसुन्धरा के अनुपम रत्न ही हैं।

सत्य, न्याय, परोपकार, आत्मीयता, सौजन्य, सौहार्द आदि समस्त धार्मिक सद्गुणों से विभूषित आर्यजन ही सदा से इस भारत देश की सब से बड़ी पहचान बने रहे हैं। इसी कारण यह देश आर्यदेश के नाम से विश्वविख्यात हुआ है। ये आठ आर्य लक्षण इस प्रकार हैं— **१. जितेन्द्रियता, २. मनःसंयम, ३. तितिक्षा, ४. सत्यभाषण, ५. दानशीलता, ६. त्याज्यविषय वैर, ७. दयालुता तथा ८. नम्र स्वभाव**। इन आठ लक्षणों से लक्षित मानव ही आर्यपद वाच्य होता है। इतर जन अनार्य कहे गये हैं। आजकल अनार्यदेशों का अन्धानुकरण, इस आर्य

देश की छवि को धूमिल करता जा रहा है, जो आर्य संस्कृति के लिये घातक है। इसी कारण प्राप्त स्वतन्त्रता के युग में भी छद्म धर्मनिरपेक्षता हेतुक अन्याय, असत्य, अनाचार, अत्याचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, अदूरदर्शिता, अविवेक, स्वार्थान्धता, नरपशुता, हिंसातङ्कादि दुर्गुणों का बोलबाला होने से यह आर्यदेश अपनी प्राचीन पहचान खोता जा रहा है। यह खेद का विषय है। इसी आशय से लिखा गया श्री आचार्यपाद का यह सूक्तिपद्य, आर्य जाति के लिये उद्बोधन वाक्य ही है।

श्रुति सिद्ध सनातन वैदिक संस्कृति के पोषक भारतीय आर्यजन सेवित सन्मार्ग में दुर्भावनापूर्ण असद्व्यवहार के लिये कोई स्थान नहीं है। भारतीय आर्य संस्कृति, सदा से ही सौहार्द, सहानुभूति, आत्मीयता, विश्वबन्धुता, चराचर जगदात्म भगवद्दर्शन, परोपकार, त्याग, सत्य, न्याय, अहिंसा सदाचारादि सन्मानवीय सद्गुणगणरत्नमाला से अलंकृत रही है। इस अनुपम संस्कृति के संरक्षण का दायित्व भारतीय आर्य मानवों पर ही निर्भर है, यह सदा ध्यान रखना अपरिहार्य है।

मिथ्याव्रतोऽपि सत्यव्रतनामा क्षत्रियापसदः ।
मृदुमति महिलामस्तक मुण्डन मतिमान् मनो हरति ॥८॥

व्याख्या— प्रायः पुराकाले, नाम्नैव व्यक्तिगत गुण कर्मज्ञानं यथा स्यात् तथा नामकरणे पूर्वजानां परम्परासमाद्रियते स्म, परन्तु सेदानीं त्रुटिता विलोक्यते। जन्मान्धस्यापि नयनसुख इति नामः, अशान्तस्यापि शान्तिस्वरूप इति नाम्ना व्यवहारः। नाम्नोऽर्थ रक्षणमाजीवनं कर्तव्यमिति विस्मृत्य जना इदानीं कापथ मनुवर्तमाना दृष्यन्ते यत्र तत्र गतह्रीका गतश्रीकाश्चेति, स्वयं दृष्ट श्रुतार्थ, मन्योक्ति वाधृत्य स्वसूक्तिपद्यद्वारा तदेव प्रस्तुवन्त्याचार्यपादाः —

सत्यधर्माचरणमेव व्रतं यस्य भवेत् स एव सत्यव्रतनाम्ना लोके व्यवहर्तुमर्हः, यथा सत्य व्रतो भीष्मपितामहः। परन्तु धर्मनिरपेक्षेऽस्मिन् काले तद्विपर्ययो दृश्यते तथाहि—

सत्यव्रतनामापि, सत्यव्रतनाम्ना जनैर्व्यवहृतोऽपि कश्चित् अनिर्वाच्य परिचयः, क्षत्रियापसदः क्षत्रिय जातीयो धूर्तविशेषः, मिथ्याव्रतो मिथ्याचारी असदाचरणपरो भूत्वा स्वनाम्नो गौरवं न रक्षति। नेदं समञ्जसं दीनार्तत्राणव्रतिनां, क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति धर्मशास्त्रोक्तमाचरतां भारतीय क्षत्रियाणामिति। प्रस्तुतऽस्तु सः केवलं नाम्नैव सत्यव्रतो नार्थतः। यतो हि— मृदुमतीनां स्वभाव सरलानां महिलानां नारीणां मस्तकमुण्डने, क्रूरतया

तद्वैधव्यापादनात् केश कर्तन कर्मणि, - यद्वा - स्वकृतसंसर्गदोषात् तासां सतीत्वहरण कार्ये, तदपहारे वा मतिः कुत्सितबुद्धिर्यस्य सः तादृशोऽपि भूत्वा मनो हरति 'अर्थ लोलुप चाटुकाराणां भीतानां वा तत्प्रशंसकानां जनानामिति आशयः।' अथवा मनोहरतीति मनोहरः स इवाचरति, असाध्वाचरन्पि साध्वाचारमात्मानं मन्यते कलेरेष महिमा। अत्र मनोहरतीति नामधातु क्रियापदम्। अत्र सूक्तिद्वारा विरूद्धार्थावभासात् विरोधालङ्कारः, विरोधाभासत्वं विरोधः इति काव्यालङ्कारसूत्रोक्त लक्षणात्। उपगीतिश्च मात्राछन्दः। आर्या द्वितीयकेऽथे यद्गदितं लक्षणं तत् स्यात्। यद्युभयोरपि दलयो रूपगीतिं तां मुनिर्बूते। इति वृत्त रत्नाकरोक्त लक्षणात्।

भावार्थ— श्रीआचार्यपाद ने किसी क्षत्रियाधम सत्यव्रत नामा धूर्त, साधुवेशधारी की पाखण्डलीला का दुश्चरित्र प्रकाशन किया है। इस सूक्तिपद्य से ऐसा ही कुछ प्रतीत होता है —

नाम का अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है। 'नाम' वाचक और उसका 'अर्थ' वाच्य होता है। नाम शब्द अपने यौगिक अर्थ का बोध कराता हुआ किसी व्यक्ति विशेष में रूढ हो जाता है। जैसे सत्यव्रत शब्द। न हि सत्यात्परोधर्मः — सत्यरूप उत्तम धर्म का आचरण करने वाला पुरुष, इस अर्थ के साथ सत्य के व्रत का पालन करने वाले का अभिधान बन जाता है, जैसे सत्यव्रत भीष्म पितामह। नामश्रवण के साथ ही श्रोता को व्यक्ति विशेष के नामार्थानुरूप गुण कर्मों का भी बोध होता है। अतः लोक में कोई पुरुष नामार्थबोधित गुणधर्मों का परित्याग करके विपरीताचरण करता है तो अन्य पुरुष उसे धिक्कारते हैं कि इसने अपना नाम ही डुबो दिया। अतः कुल परम्परानुसार शिक्षित मानव, अपने नाम का गौरव समझ कर दुर्व्यवहार से बचते थे तथा अपने अन्वर्थ नाम को कभी कलंकित नहीं होने देते थे। इसीलिये वेद बोधित नामकरण संस्कार के द्वारा कुलदेवता सम्बद्ध, नक्षत्र देवता सम्बद्ध, इष्टदेवता सम्बद्ध तथा सद्व्यवहार बोधक या भगवन्नाम स्मारक– वेदव्रत, राम, कृष्ण, गोविन्द आदि नाम रखे जाते थे, कि जिससे मानवों की आस्तिक मनोवृत्ति में सहायता मिलती थी।

भगवन्नाम स्मारक नामों के रखने का एक और भी कारण रहा— पारलौकिक सिद्धि प्राप्त करने के लिये शास्त्रों में सामर्थ्य तथा अधिकार के अनुरूप उपायों के विकल्प दिये गये हैं — अग्न्याधान दर्श पौर्णमास चातुर्मासादि यज्ञ तथा यज्ञों के अभाव में तीर्थ सेवन, इसके अभाव में व्रतानुष्ठान मन्त्र जपादि। किन्तु कलियुग में इन कार्यों के दुष्कर होने के कारण सर्वमान्य उपाय, भगवान का नाम सङ्कीर्तन ही शास्त्रोपदिष्ट है, **कलियुग केवल नाम अधारा, सुमिर सुमिर नर उतरें पारा** नाम सङ्कीर्तन में किसी प्रकार की त्रुटि, अशुचिता, अर्थव्यय,

प्रत्यवायादि की प्रसक्ति नहीं होती, तथा इस उपाय से समस्त यज्ञ तीर्थ व्रतानुष्ठान का सम्पूर्ण फल भी प्राप्त हो जाता है। यज्ञानुष्ठान प्रत्यवायों से अछूते नहीं रहते— **सङ्कटाह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता** किन्तु कलिकाल में दुर्भाग्यवश, जीविकोपार्जनादि कार्य, शरीर, मानस, आतङ्क बाहुल्य के कारण, भगवन्नाम स्मरण के लिये उपयुक्त समय नहीं मिल पाता। आधुनिक जगत के मानवों का विदेशी संस्कृति के अनुरूप दोनों सन्ध्याकाल ही कन्दुक क्रीडा में ही व्यतीत होते हैं, जबकि वही समय सुषुम्ना नाड़ी के प्रवाह काल में नित्यकर्मानुष्ठान, भगवन्नामस्मरण का होता है। ऐसी दशा में भगवन्नामस्मरण के लिये समय का सर्वथा अभाव रहता है। इस अभाव की पूर्ति के लिये पुत्रादि बालकों के नाम राम, कृष्ण, शिव, गोविन्द, माधव आदि रखे जाते थे कि पुत्रादि के ब्याज से ही दिन रात अनेकों बार भगवन्नामोच्चारण होता रहे, किं जिससे पापों का विलय होता रहे। आज यह परिपाटी भी टूट रही है। आधुनिक सभ्यता के नशे में चूर, भारतीय मानव, अपने बालकों के नाम पप्पू, टप्पू, टीटू, नीटू, चीटू आदि रख लेते हैं जिससे बालकों के नाम ब्याज से भी भगवन्नामोच्चारण सम्भव नहीं हो पाता और उन्हें अजामिल के द्वारा पुत्र के नाम के बहाने नारायणोच्चारण का ऐतिहासिक लाभ नहीं मिल पाता। अस्तु प्रकृत का अनुसरण करते हैं। कुछ लोग अपने नामार्थ के विपरीत आचरण करते हैं तथा नामानुरूप उनका व्यक्तित्व देखने में ही नहीं आता, जैसे— नयनसुख जी अन्धे, दयाराम जी निर्दय, शान्ति स्वरूप जी महाक्रोधी देखे जा सकते हैं। इसी आशय से श्रीआचार्यपाद ने स्वसूक्ति पद्य के द्वारा किसी वास्तविक या काल्पनिक नाम्ना सत्यव्रत अर्थतः मिथ्याव्रत क्षत्रियापसद का मिथ्याचार सूचित करते हुए कहा है कि इस धर्मनिरपेक्ष युग में सत्यव्रत नामक क्षत्रियाधम मिथ्याव्रतरत होकर अपने नाम के गौरव को भुला बैठा है। अब नाम का ही सत्यव्रत रह गया है काम का नहीं। धर्मप्राण भारतीय पुरुषों को यह शोभा नहीं देता कि धर्म के नाम पर भोली भाली नारियों को बहका कर उनके सिर के बाल मुंडवा कर बाबा लोगों के साथ रहने वाली बाई बना दें या फिर अपनी कुत्सित वासनापूर्ति के लिये उनके सतीत्व का विनाश करें।

तदनु परस्त्रीसम्पर्क दूषित होकर भी अपने आप को सिद्ध तपस्वी के रूप में ख्यात कराने के लिये अपने साधक धूर्त जनों से प्रचार कराएँ। कितने आश्चर्यपूर्ण खेद का विषय है कि सत्यव्रत नाम से अभिहित होने वाला मिथ्याचारी क्षत्रिय धूर्त, जनता जनार्दन को धोखे में डाल कर दम्भलीला करता हुआ धर्मविरूद्ध आचरण करके भी अपने आप को सदाचारी समझता है। **वञ्चक भगत कहांय राम के, किङ्कर कञ्चन कोटि काम के।** यह कलियुग के इतिहास की पुनरावृत्ति ही है। भोली भाली जनता ऐसे धूर्तों को भ्रान्ति से प्रसिद्ध तापस समझ कर धोखा खा जाती है। ऐसी दम्भलीला से, सन्तमूर्धन्य श्री आचार्यपाद जैसे महाभागों को मानसिक क्लेश होना स्वाभाविक ही है।

नाऽऽचरति मित्रवृन्दे मित्रेण समं रिपुषु रिपुवद्यः।
पशुरेव स मन्तव्यः पशुपतिरथवा स लोकेऽस्ति ॥९॥

व्याख्या— आत्मोदयः परजयानिर्द्वयं नीतिरितीयती आत्मोदये, मित्राणामभ्युदयाय रिपूणाञ्च पराजयाय सदा विज्ञैरवधीयते। इदमेव नीतितत्त्वं प्रतापानुरागवतां मनस्विनामिति, स्वसूक्तिपद्यद्वारा प्रकारान्तरेण प्रस्तुवन्त्याचार्यापादाः-

यो नीतिकुशलः पुरुषो जन, धन, बाहुबल सम्पन्नोऽपिसन् मित्रवृन्दे सुहृत्समुदाये मित्रेण समं मित्रवत्, रिपुषु च रिपुवत्त नाचरति न व्यवहरति स लोके संसारे पशुरेव मन्तव्यः। सदोपकारिषु मित्रेषु य औदासीन्यं भजते, अहितचिन्तकेषु च रिपुवर्गेऽनवहितस्तिष्ठति, स स्वहिताहितानभिज्ञः प्रज्ञापौरुष दरिद्रो मानापमानयोरविवेकात् पशुतुल्य एवास्ति (अविशेषं पश्यतीति पशुरिति निरुक्त्या पशुगत जाड्यमान्द्यादि गुणसम गुणत्वसत्त्वात् सदसद्विचारशून्यः पशुरेव न पुरुषः। अथवा - पक्षान्तरे - स पशुपतिः - शिव एवास्ति, पशुपाशविमुक्तत्वात्।) तथोक्तम् -

"घृणा लज्जा भयं शोको जुगुप्सा चेति पञ्चमी। कुलं शीलं तथा जाति रष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः" पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिव इति। ततश्च स पुरुषो न पशुः किन्तु पशुपतिः शिव एव साक्षात्, शत्रुमित्रयोः समत्व बुध। "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो न मत्प्रिय इति शिवस्वरूपस्मरणात्। पशूनां पति पशुपतिः शिवएव, वेदे पञ्चपशवः- अजा अवयः अश्वा गावो मनुष्या इति निगदितास्तेषां पालकत्वात् शिव एव पशुपतिरुक्तः।" नमो हिरण्यबाहव इति याजुषरौद्राध्याय मन्त्रगतोंऽशः "पशूनां पतये नम इति शिवं पशुपतिमेव नमसा युनक्ति।" अत्रोपमेये पशुत्व-पशुपतित्वारोपे पूर्वार्धगतवाक्यार्थस्य हेतुत्वेन वाक्यार्थ हेतुकं काव्यलिंगमलंकारः। "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते" इति लक्षणात्। यद्वा एवपदेन प्रकतस्थापनान्निश्चयोऽपि। अत्राप्यार्यावृत्तम्। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थः— श्रीआचार्यपाद ने अपने इस सूक्तिपद्य के द्वारा धनजनबल सम्पन्न राष्ट्रनायकों तथा धनकुबेर पुरुषों के सर्वदा प्रयोगार्ह नीति शास्त्र प्रोक्त अत्यावश्यक प्राथमिक नीतिसार का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि जो राष्ट्राध्यक्ष अथवा राजपुरुष, धन, जन, बाहु बल से सम्पन्न एवं नीतिशास्त्राभिज्ञ होने पर भी प्रतापानुरागमयी पद्धति से विमुख

होकर अपने सुहृद्वर्ग के साथ सौहार्दभाव पूर्ण व्यवहार नहीं करता तथा शत्रुवर्ग के साथ शत्रुवत् आचरण नहीं करता, तो वह उपेक्षाशील पुरुष प्रमादालस्यादि दोषों के कारण पशु के ही समान होता है। जिस प्रकार पशु परकृत बन्धन बद्ध होकर अपनी स्वायत्तता खो देता है उसी प्रकार असम्मानित मित्रगण की उपेक्षा से, वह मन्दबुद्धि अविवेकी पुरुष निर्बल असहाय होकर प्रबल शत्रुसमुदाय के अधीन हो जाता है तथा अपना राष्ट्र धन जन मान प्रतिष्ठा आदि सब कुछ खो बैठता है। शत्रु-मित्र ऊंच-नीच का भेद न मानकर समान व्यवहार करने वाला पुरुष सर्वा न विशेषेणा पश्यतीति पशुः इस निरुक्ति के आधार पर पशु ही कहा जाता है। इस प्रकार के असावधान पुरुष को राजनय व्यवहार पक्ष के संदर्भ पशुतुल्य बताकर, श्रीआचार्यपाद ने सर्वोपरि आध्यात्मिक पक्ष से उसे पशुपति (शिव) के समान बताकर प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग का दिग्दर्श कराया है। यह निश्चित है कि प्रवृत्ति, निवृत्ति दोनों ही मार्ग प्रमादालस्यवशङ्गत असावधान पुरुषा के लिये अनुद्घाटित ही रहते हैं। भगवान शिव पशुपति कहे जाते हैं, क्योंकि वे वेदोक्त पाँच पशु, मनुष्य, गौ, अश्व, अजा तथा गहुलिकोपलक्षित समस्त प्राणि-वर्ग के (पति) पालक हैं। तथा वे स्वयं "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो न मत्प्रियः" इस समत्वयोग युक्त अपने स्वरूप से पाशमुक्त हैं। अपने प्रिय भक्तों के पशुपाश विमोचक (मुक्तिप्रद) भी वही हैं। सांसारिक भोगासक्त पुरुष पशुवत विषयों के रज्जुपाश में बंधे रहते हैं। भगवान शिव ही अधिकारानुरूप उन्हें उन पशुपाशों से विमुक्त कर सकते हैं। श्री आचार्यपाद ने इसी भाव को ध्यान में रखकर अपने सूक्ति पद्य में "पशुपतिरथवा" विकल्प से सर्वत्र समत्व योगहेतुक पशुपाश से विमुक्त पशुपति (शिव) के तुल्य बताया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से वे पाश आठ प्रकार के बताये गये हैं कि जिनसे बंधकर पुरुष रागद्वेषादि के वशीभूत होकर पशुवत हो जाता है— घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुल, शील तथा जाति इन आठ पाशों से आबद्ध पुरुष प्रवृत्तिमार्गी, रागद्वेषकामक्रोधादि के कारण पशु के समान हो जाता है। तथा निवृत्तिमार्गी समत्वयोगी पुरुष इन पशुपाशों से विमुक्त होकर पशुपति (शिव) तुल्य हो जाता है। श्री आचार्यपाद का नीतिसारसूचक यह सूक्तिपद्य केवल राजा, राजपुरुष या धनाध्यक्षों के लिये नहीं, अपितु मध्यम तथा सामान्य कोटि के पुरुषों के लिये भी व्यवहारबोधक है। विवेकी विज्ञजन शास्त्रोक्त लक्षणों से सन्मित्र, असन्मित्र, मूर्खमित्र, प्राकृत मित्र, कृत्रिम मित्र, प्राकृत शत्रु, कृत्रिम शत्रु, पंडित शत्रु, अपंडित शत्रु के व्यक्तित्व को भलीभांति जान कर उनसे तदनुकुल व्यवहार किया करते हैं। ऐसा न करने पर वे असावधान पुरुष, विषम परिस्थिति में उलझकर पशुवत परायत्त हो जाते हैं। इन विषयों का विशेष विवेचन नीतिग्रन्थो से प्राप्त होता है। यहाँ केवल सन्मित्र तथा दुर्मित्र के सुप्रसिद्ध लक्षण प्रासंगिक होने से दिये जा रहे हैं। सन्मित्र का लक्षण—

पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यानि गूहति गुणान प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

अर्थात् जो मित्र अपने मित्र को पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होने देता, हितकर कार्यों में योजित करता है, अवगुणों को गुप्त रखकर गुणों का ही व्याख्या करता है, आपत्तिकाल में भी मित्र का साथ निभाता है, समय पर यथोचित यथासामर्थ्य सहायता प्रदान करता है। ऐसे मित्र को सत्पुरुषों ने सन्मित्र कहा है। दुर्मित्र का लक्षण —

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखं ॥

अर्थात् जो सामने तो प्रिय वचन बोलकर स्नेह प्रकट करता है तथा परोक्ष में बने बनाये काम बिगाड़ देता है, ऐसा दुर्मित्र पयोमुख विषकुंभ के समान होता है, उसे त्याग देने में ही कुशल है। कभी कभी विचारशील पंडित शत्रु की अपेक्षा मूर्ख मित्र की मित्रता अधिक भयंकर हो जाती है, अतः सत्सुमैत्री का शास्त्रोपदेश है। मैत्री, शात्रव औदासीन्य प्रायः कारण विशेष से होते देखे गये हैं, उनका विचारपूर्वक हानोपादान कर लेने से समस्यायें सुलझ जाती हैं। नियतिवश जीवन में अनेक विषम परिस्थितियाँ आती है। विज्ञजन अपने बुद्धिबल, सद्व्यवहार से उन्हें अपने अनुकूल बना लेते हैं--

न कश्चित् कस्य चिन्मित्रं न कश्चित् कस्य चिद्रिपुः।
कारणादेव जायन्ते मित्रोदासीन शत्रवः ॥

अतः परमार्थ पथिक साधुजन, सर्वत्र सर्वकाल व्यवस्थित रागद्वेषविहीन होकर एकाकी विचरण करते हुये ऐहिकलीला संवरण करते हैं।

ऐन्द्रीं भूतिं नित्यां दत्त्वा शौक्लीं कीर्तिं विस्तार्यैषा।
शक्तिं सौरीं पूर्तिं नीत्वा राष्ट्रं गौरीदृङ् नः पायात् ॥१०॥

व्याख्या– अत्र सूक्तिपद्ये आचार्यपादाः स्वराष्ट्रस्य सर्वविध धनधान्य सुख समृद्धि योग-क्षेम कामनया भक्तवात्सल्यामृतनिर्झरिणीं गौरीदृशं प्रार्थयन्ते– ऐन्द्रीं, इन्द्रदेवता सम्बन्धिनीं नित्यामविनाशिनीं भूतिं त्रिलोकश्रियं दत्वा प्रदाय, शौक्लीं निष्कलङ्का कीर्तिं सुख्यातिं विस्तार्य-प्रसार्य, सौरीं सुरसम्बन्धिनीं सूर्यसम्बन्धिनीं वा शक्तिं सामर्थ्यं तेजोबलपराक्रमादिगुण समवायं पूर्तिं नीत्वा यथौचित्यं तत्परिपूर्णतां विधाय एषा मनोनिविष्टा ध्यानविषयीभूता गौर्या जगन्मातुरुमाया दृक दृष्टिः तत्कृपाकटाक्षवीक्षणं नः अस्माकं राष्ट्रं देवकामितं भारत देशं पायात्पातु। पूर्णकरुणामय दृष्टिदानात् भवानी अस्माकं राष्ट्रं योगक्षेमोन्नतं सर्वदा पालयेत्। यस्या दृक्सङ्केतेनैव जगतः सृष्टिप्रलयौ भवतः, स विश्वेश्वरी

सर्वसम्पत्करी विश्वशक्तिर्माता गौरी भारतराष्ट्रस्य सर्वाभ्युदय लाभाय सर्वदा भूयादितिभावः। अत्रोदात्तमलङ्कारः "उदात्तम वस्तुनः सम्पत्" इति काव्यप्रकाशीयतल्लक्षणात्। विद्युन्माला च वृत्तम् मोमोगोगोविद्युन्मालेति तल्लक्षणात्।

भावार्थ-- इस सूक्तिपद्य के द्वारा श्री आचार्यपाद ने स्वराष्ट्राभ्युदय की भावना से प्रेरित होकर अनन्त ब्रह्माण्ड प्रसवित्री सर्व शक्तिस्वरूपिणी शिववामाङ्गवासिनी भगवती गौरी के कृपा कटाक्ष वीक्षण के द्वारा स्वतन्त्र भारत राष्ट्र की सर्वतोभावेन सुखसमृद्धि की कामना अभिव्यक्त की है — ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त समस्त विश्व के उद्भव स्थिति संहार कार्य, जिसकी लीलामात्र से होते रहते हैं, उस सुरनर मुनिजन समाराध्या, श्रुतिगीतकीर्ति, दुश्चर तपश्चयार्धिगत अभूतपूर्व गौरवर्णाङ्गी शिव महाशक्ति भगवती पार्वती की स्वभावसिद्ध करुणामयी दृष्टि, हमारे स्वायत्त भारत राष्ट्र के लिये सर्वकाल सुस्थिर देवराज इन्द्र का सा वैभव प्रदान करे, तथा धर्म-सत्य, न्याय-अहिंसा- औदार्यादि सद्गुणों से होने वाली स्वच्छ निष्कलङ्क कीर्ति का विस्तार करें, अथ च सुरसम्बन्धिनी सूर्य सम्बन्धिनी महाशक्ति (तेजोबलपराक्रमादि) की यथाभीष्ट परिपूर्ति करती हुई अनन्त काल तक सुस्थिरता तथा सुरक्षा प्रदान करती रहे। इस सूक्तिपद्य से यह भी भाव अभिव्यक्त होता है कि — ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सर्वाभीष्ट कामनाओं की सिद्धि के लिये विश्वभरण पोषण करने वाली भोगमोक्ष प्रदा भगवती श्री महादुर्गा जी की भक्ति श्रद्धापूर्वक विधि विधान से आराधना की जाय कि जिससे भारत राष्ट्र दिनों दिन सार्वदिक् समुन्नत होता रहे। नियति शक्ति के सामान्य नियमानुसार भोगवादी पुरुष मोक्ष लाभ के अधिकारी नहीं होते तथा मुमुक्षुजन या मुक्त पुरुष जागतिक भोज भाजन नहीं होते। किन्तु भगवती महादेवी इस सामान्य नियम को निरस्त कर के अपने विशेषाधिकार से अपने आराधकों को भोग तथा मोक्ष दोनों ही प्रदान कर देती हैं। यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो, यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः, श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।

भक्त वात्सल्यसुधा सरिद्रूपा, जगन्माता, निखिलतेजस्तत्त्व की अधिष्ठात्री महेश्वरी अपने भक्तों के वाम तथा दक्षिण दोनों ही हाथों में क्रमशः भोग मोक्ष रूप दो फल प्रदान कर देती है। भोगमोक्षोपलक्षित प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग ही शास्त्रों में वाम मार्ग और दक्षिण मार्ग शब्द से कहे गये हैं। दोनों ही मार्ग महेश्वरी देवी के स्वायत्त हैं। चराचर जगन्माता महादेवी जनमानस मन्दिरों में चेतना, बुद्धि, श्रद्धा, स्मृति, दया आदि अनेक रूपों से सदा विराजमान होकर विश्व का कल्याण करती है। अतः धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिये सच्चिदानन्दरूपिणी भगवती महेश्वरी की आराधना सदा भक्तिभाव से करनी चाहिये। श्री आचार्यपाद का यह आदेश उनके सूक्तिपद्य से सूचित होता है।

कान्तः कुसुमवेलाया वसन्तोऽद्यापि नागतः।
मन्येऽधन्यो निगडितोऽपरदिग्गणिकाङ्गणे॥११॥

व्याख्या— दुरदृष्ट नष्टसामर्थ्याः प्राणिनः समीहमाना अपि स्वाभिलषितं न लभन्ते, नियतेर्बलवत्वादेवेत्याचार्यपादा अवगमयितुं स्वसूक्तिपद्येन वसन्त कुसुम वेलयो दुर्दैवकृतमसामयिक वियोगमुपवर्णयन्ति—

कुसुमवेलायाः कान्तः, कुसुमवेला वसन्तं कामयते इति तत्कान्तो वसन्तः, वसन्तकालोऽद्यापि इदानीमपि तदा गमनकालेऽपि नायातः। तदनागमने हेतुरुत्प्रेक्ष्यते — अपर्दिग्गणिकाङ्गणे, पश्चिमाशावारविलसिन्या गृहप्राङ्गणे सोऽधन्यः "धनमर्हतीतिधन्यः तदभावादधन्यः स निगडितः निगडबद्धकृतः इत्यहं मन्ये। गणिका धनिनमेव कामयन्ते नाधनवन्तमिति तासां व्यवहारो लोकप्रसिद्ध एवेति।" अपरदिशा सह वसन्तस्य सम्बन्धो विमृश्य एव। यथा माघीयपद्ये— "अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम्। निरकासय द्रविमपेतवसुं यदालयाद परदिग्गणिका।" अत्रापर दिग्गणिकया अस्त मितस्य रवेः सम्बन्धश्चमत्कृतिमाधत्ते। न तथा सूक्ति पद्ये वसन्तस्यापरदिग्गणिका सहेति। अस्तु महामतीनां पंडित प्रकाण्डानां सर्वतन्त्रस्वतंत्राणामाचार्यपादानां किमत्र गूढं तात्पर्यं भवेत्, तत्र वयं विद्यः स्वस्याल्पज्ञत्वात्। अथवान्योक्तिमाश्रित्येवं विचार्यते - वसन्तान्योक्तया कश्चिद् भारतीय मानवः आंग्लदेशंगतो ध्येतुमेकाकी पर्यटितुं वा तत्रापरदिग्वर्त्यांग्लदेशीय स्वतन्त्रसुन्दर्याः प्रीतिपाश निगडितः स्वपत्न्याः कुसुमवेलापदेन सङ्केतितायाः कान्तोऽपिसन् स्वागमन सूचनां दत्वापि नागत इति कल्प्यताम्। देशान्तरवनश्रियेति, पाठे न कापि विप्रतिपत्तिः सम्भाव्येत। छेकानुप्रासच्छटप्यत्र विलोक्यते। सूक्तिपद्यार्थेन गम्यमानं नायक-नायिकात्वं वाच्यार्थमेवोपकुरुते इति समासोक्तिः। मन्ये इति वाच्या हेतुत्प्रेक्षा च। अपरदिशि गणिकात्वारोपात् वसन्तस्य विटत्वारोपेणैक देश विवर्तिरूपकालङ्कारोऽपि। वृत्तमत्राष्टाक्षरपादोऽनुष्टुप्।

भावार्थ— इस सूक्तिपद्य के द्वारा श्री आचार्यचरण यह सूचित करते हैं कि दुरदृष्टवशात सामयिक अभीष्ट वस्तु लाभ के मार्ग में अनेक अन्तराय आपतित होते हैं। जिस कारण रागी जन अपने मन में भारी बेचैनी का अनुभव करने लगते हैं। ऐसी अतर्कितोपनत स्थिति में वे बेचारे करें भी क्या। इष्ट वस्तु का लाभ या अलाभ दोनों ही विधि के विधान पर निर्भर होते हैं। यहाँ कुसुमवेला तथा उसके कान्त वसन्त-काल के नियतिकृत-सामयिक संयोगाभाव को दिखा कर यही विचार प्रस्तुत किया गया है। जो अपने कान्त वसन्त का

दर्शन संयोग पाकर विकसित पुष्पों के रूप में चतुर्दिक मनःप्रसादपूर्ण स्मित विकसितनयनवदना होकर, शीतल मन्द सुगन्ध समीर से आन्दोलित लता नर्तकियों द्वारा मनोरम लास्य प्रस्तुत कर वसन्त का स्वागताभिनन्दन करती थी, वही कुसुम वेला आज चिरप्रतीक्षित समय पर अपने प्रिय वसन्त के न आने पर भग्नमनोरथा होकर सहृदयों को मानस उद्वेग पहुँचा रही है। आचार्यपाद वसन्त के अनागमन में हेतु की उत्प्रेक्षा करते हैं कि ऐसा लगता है कि अपरदिशा (पश्चिमाशा) रूप गणिका ने वसन्त को अपने प्राङ्गण में बाँध कर डाल लिया हो। देवो दुर्बलघातकः, इस न्याय से वह बेचारा अधन्य ही है कि अपनी सुमवेला के ऋतुकाल पर भी नहीं जा पाया। अथवा — अधन्य (धनाभाववान्) होने के कारण उसे दण्डित कर लिया गया हो, क्योंकि गणिकायें धनी पुरुषों का सम्मान करती हैं। यद्यपि -कुसुम वेला तथा वसन्त काल इन दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, तो भी एक ही आश्रय में स्त्रीत्व पुंसत्व का भेद मानकर रमणीयार्थ प्रतिपादनार्थ भेद की कल्पना कर ली गई है, जैसे एक अद्वितीय परमात्मतत्त्व में भक्त्यर्थ द्वैत की कल्पना कर ली जाती है।

अनावृतनवद्वारे पञ्जरे पवनः खगः।
स्वाभाविके निःसरणे वसतीत्येव विस्मयः॥१२॥

व्याख्या— **इदं प्रहेलिका सूक्तिपद्यं, आचार्यपादैः —**

नौ दरवाजे पींजरा तामें पंछी पौन,
रहिबे कौ आचरज है जाइबे कौ पुनि कौन।

इति हिन्दीभाषा पद्यं संस्कृते तथैव परिवर्तितमस्ति- अनावृतानि उद्घाटितानि नवद्वाराणि नवेन्द्रियगोलकानि चक्षुरादीनि यत्र तत् तादृशं पञ्जरं शरीररूपं, तत्र पवनः प्राणवायुः, स एव खगः खे आकाशे गच्छतीति खगः, आकाशचारी सन्नपि सः, अनावृतनवद्वारपञ्जरान्निःसरणे स्वाभाविके सत्यपि स्वस्य, तत्रैव वसति नोड्डीयते इत्येव विस्मय आश्चर्यमस्ति। कस्तत्रतमवरुणद्धियतः स न निर्गच्छति। यदा स निर्गच्छति तदातमवरोद्धुं कोऽपि शक्नोति। अत्र भोग पारवश्यमेव हेतुस्तदानिर्गमनव्यापारे। अत्रमार्गेऽनवरुद्धेऽपि निःसरणकार्यस्याभावात् विशेषोक्तिलङ्कारः। अनिःसरणहेतुं विनापि तदनिः सरणाभावाद्विभावनालङ्कारोऽपि। ततस्तयोरत्र सन्देहसङ्करालङ्कारः। अनुष्टुव वृत्तम्।

भावार्थ— इस प्राकृतिक पाञ्चभौतिक शरीररूप पिंजरे में नौ द्वार (इन्द्रियगोलक) सदा खुले ही रहते हैं, फिर भी आकाश विहारशील पक्षी (प्राणवायु) इस में अपनी अचलस्थिति बनाये रखता है, उड़ नहीं जाता, यह बड़ा ही आश्चर्य है। खुले द्वारवाले पिंजरे से तो देहधारी

शुक सारिका प्रभृति पक्षी भी बाहर निकल कर नहीं लौटते। किन्तु आकाश विचरण स्वभाव परवश भी यह प्राणवायु रूप पक्षी, शरीरपञ्जर में ही निवास करता है, उड़ता नहीं है। इससे अधिक और क्या आश्चर्य की बात हो सकती है और जब यह प्राणपक्षी नियति नियमानुसार अपने स्थान परिवर्तन के लिये शरीर के पिंजरे से बाहर निकल जाता है तो फिर लौटता नहीं और न लौटाया जा सकता है। यह निराकार पक्षी उड़कर कहाँ चला गया, यह जानना भी सम्भव नहीं होता। रहस्यवेत्ताओं ने शरीर पञ्जर से प्राणपक्षी के बाहर न जाने में उसकी भोगपरवशता को ही कारण बताया है।

जैसे घड़ी चाबी लगाने से यथा समय तक अबाध गति से चलती रहती है, उसी प्रकार शरीर की घड़ी में भी प्राकृतिक चाबी लगी रहती है, जिसके आधार पर श्वासोच्छ्वास की सुइयाँ चलती रहती हैं। शरीर की घड़ी में प्राण तथा अपान वायु की ग्रन्थिरूप चाबी नाभि मण्डल में लगी होती है, जिससे दोनों ही प्राण तथा अपान परस्पर एक दूसरे को अपनी ओर खींचते रहते हैं, जिसके कारण श्वासोच्छ्वास के रूप में बाहर निकलने का प्रयास करते हुये भी दोनों ही बाहर नहीं निकल पाते। देहावसान में नाभिस्थानगत प्राणापान ग्रन्थि खुल जाने से दोनों का परस्पर आकर्षण-विकर्षण समाप्त हो जाता है। तब वे पक्षी शरीर पञ्जर के किसी भी द्वार से निकल कर गगनगति प्राप्त कर लेते हैं। फिर उन्हें लौटाया नहीं जा सकता। यदि आधुनिक वैज्ञानिकों को दोबारा ग्रन्थि लगाने की तकनीक हाथ लग जाय तो उन पक्षियों को न उड़ने देना सम्भव हो सकता है। किन्तु यह प्राकृतिक ग्रन्थि है। दोबारा लगा देना मनुष्य के वश की बात नहीं है। वैसे, भारतीय योगमार्ग द्वारा ही प्राचीन काल में प्राणनिरोध विद्या के बल पर प्राणापान ग्रन्थि को सुरक्षित रखा जाता था। जिससे योगीजन परमायु अमितायु होते थे। अश्वत्थामा आदि चिरजीवी पुरुष इसके उदाहरण हैं। वसिष्ठ ऋषि ने प्राणोपासना का रहस्य काकभुशुण्डि से ज्ञात किया था। प्राणोपासना की शक्ति से काकभुशुण्डि जी सत्ताईस कल्पों से अब तक विद्यमान हैं। शरीर सम्बन्ध विच्छेद होने पर चिदाभास के साथ तदनुगामी प्राण भी सहगमन करता है। यह परमाश्चर्यमयी जगन्नियन्ता की विलक्षण लीला ही है। उक्त सूक्ति पद्य संस्कृत साहित्य में भी उपलब्ध है— **"उद्घाटित नवद्वारे पञ्जरे विहगो निलः, यत् तिष्ठति तदाश्चर्यं प्रयाणे विस्मयः कुतः।"** वैसे हिन्दी भाषा में भी— **"नौ दरवाजे पींजरा या में पंछी पौन, रहिवे कौ आचरज है जाइबे कौ पुनि कौन"** —जैसे उक्तियाँ देखने को मिलती हैं।

(किन्तु पदलालित्य व अर्थनिष्पत्ति की दृष्टि से **"उद्घाटित नवद्वारे"** की अपेक्षा कृत **"अनावृत नवद्वारे"** तथा **"यत् तिष्ठति तदाश्चर्यं प्रयाणे विस्मय कुतः"** की अपेक्षा **"स्वाभाविके निःसरण वसतीत्येव विस्मयः"** निश्चित ही वास्तविकता से स्वाभाविक अभिन्नता स्थापित करता है एवं साथ ही अभिव्यक्ति की परिपूर्णता का लक्ष्यसंधान अचूक रूप से करता है— सं)

सर्वाश्चर्यमय परमात्मा के जगल्लीलासंविधान में यह अतर्क्य आश्चर्य है। किसी आधुनिक वैज्ञानिक के मतानुसार, शरीर में जिन तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से चेतन कला का निर्माण होता है, उन तत्त्वों को तो जान लिया गया है, किन्तु उनकी मात्रा (नापतोल) का ज्ञान नहीं हो पाया है। जिस दिन हो जायेगा तब किसी का भी प्राणोत्क्रमण नहीं होने दिया जायेगा, ऐसा उनका अपना विश्वास है।

तिमिरेऽपगते क्षणदायास्तरणावुदितेऽरुणरम्ये ।
अयते तरला कलरावा, कमलात् कमलात् भ्रमरालिः॥१३ ॥

व्याख्या— सूर्योदयकालीन प्रभात वर्णनमुद्दिश्य सूक्तिपद्यमिदमुक्तमाचार्यवर्यैः —

अरुणेन अरुणवर्णेन, रथवाहकेनारुण नाम्ना सूर्यसारथिना वा रम्ये कमनीये तरणौ भास्करे उदिते उदयं गते सति, क्षणदायाः क्षणमुत्सवं विश्रामसमयं वा ददातीति क्षणदा रात्रिस्तस्यास्तिमिरऽन्धकारे अपगते तिरोहिते सति कमलात् कमलात् कमलपुष्पेभ्यः तरला चञ्चला, कलः श्रवण सुखदो रवो गुञ्जनं यस्याः सा भ्रमरालिः चञ्चरीकपंक्तिः, अयते वहिर्निर्गच्छति। अय गतौ। भ्रमरा रात्रौ कमलपुष्पभवने मृद्वास्तरणे सुखसुप्तिकामनुभूय प्रभाते विकसित कमलपुष्पेभ्यो बहिरागच्छन्ति। इति प्रात्यहिक भ्रमरस्वभावानुकूल स्वभाव वर्णनात् भ्रमर स्वभावोक्तिरियमलङ्कारः अत्रानुप्रासः शब्दालङ्कारोऽपि, कमलात् , कमलादिति न यमकं पृथगर्थासत्वात्, प्रतिकमलपुष्पमध्यादिति तदर्थः अत्र दशाक्षर पंक्ति-वृत्तेः १०२४ प्रस्ताभेदेषु अन्यतमं वृत्तं वेदितव्यम्, प्रख्यातभेदेष्वस्यादर्शनात्।

भावार्थ— श्रीआचार्यपाद ने इस सूक्तिपद्य के द्वारा प्राभाविक मनोरम दृश्य के सन्दर्भ में, रात्रिभर विश्राम कर प्रातः कमलोदर बन्धन-मुक्त हुये मधुकर निकर के स्वाभाविक दैनन्दिन जागरणोत्सव का शब्दचित्र प्रस्तुत किया है।

तारांकित नीलाम्बर की काली चादर से आवृत क्षणदा (रात्रि) साम्राज्य समाप्त हो जाने पर, विहसितवदना दिवस-लक्ष्मी के भाल स्थित सिन्दूर विन्दु के समान अरुणवर्ण भासित भगवान भास्कर के उदय होने पर, भ्रमरसमूह, रात्रिभर कमलोदर मृदुशय्या पर विश्राम करने के अनन्तर, अथवा भोली भाली लताओं की पुष्पपेटिकाओं से मधु की तस्करी के अभियोग में निर्णीत बारह घण्टे तक के कमलोदर कारागृह से छूटकर चञ्चलगति से कलरव करता हुआ बाहर निकल रहा है। सूक्तिपद्य में रात्रि का क्षणदा पर्याय साभिप्राय है। मनोरम उत्सव, या विश्राम सुख देने वाली रात्रि को क्षणदा पद से व्याहृत किया जाता है। दिन भर का थका

मांदा जीवजगत क्षणदा देवी की गोद में ही विश्राम पाता है। भ्रमर गण भी रात्रि भर सुखसुप्तिका का अनुभव कर के प्रभात में उस कमलोदर भवन से बाहर निकलते हैं। भ्रमर तथा कमल का सख्य साहचर्य कवि सम्प्रदाय में अति प्रसिद्धि प्राप्त है। सरस होने के कारण प्रेम रज्जुबन्धन वैरस्यापादक नहीं होता। यही कारण है कि भ्रमर अपनी चञ्चकर्तरी से कमल की मृदुल पंखडियों को काटकर बाहर नहीं निकल पाता, जबकि वह कठिन से कठिन काष्ठ में भी छेद कर देता है। भ्रमर के बिना कमल की, तथा कमल के बिना भ्रमर की शोभा अस्तित्वविहीन होती है। इसीलिये भगवद्विग्रहधारित कमल पुष्पमाला के चतुर्दिक मंडराते हुए भ्रमर निकर का वर्णन, कवि सम्प्रदायानुसार काव्यों में उपलब्ध होता है।

शब्द शक्ति के द्वारा इस सूक्ति पद्य से आध्यात्मिक अर्थ भी ध्वनित हो सकता है, जो कि अध्यात्म बोध भास्कर सन्तमूर्धन्य श्री आचार्यपाद के सूक्तिपद्य से होना भी चाहिये। ब्रह्मादि त्रिदेव मूर्ति श्री गुरुदेव के परमानुग्रह प्रसाद प्राप्त हो जाने से आपातरमणीय विषयसुखदा क्षणदा (अज्ञानान्धकारमयी मोहरात्रि) के तिरोहित हो जाने पर स्वप्रकाशरम्य ज्ञान भास्कर के उदय होते ही, विषय वासना से चञ्चल मन वाले, अनादिकाल से उच्चावच योनियों में भ्रमणशील भ्रमर (जीव) सत्यं शिवं सुन्दरम्, सोऽहम्, ऐसी कलध्वनि करते हुए, (कं विषयसुखमेव मलं कर्दमो यत्र तस्मात् कमलात् संसारात् - इन्द्रिय सुख रूप मलवाले कमल, (संसार) से अथवा कं जल मित्यापः पुरुष वर्चसो भवन्ति, इति श्रुति प्रामाण्यात् कमलं पौरुषं शरीर मेव) - जलपरिणामी पुरुष शरीर से, सदा के लिये छूट कर जन्म जरा मरणादि रहित शाश्वत सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करते हैं। सद्गुरु कृपा के प्रभाव से सदसद्विवेक पूर्वक ध्यान योग के द्वारा आत्मदर्शन करके साधकजन जन्म, जरा, मृत्युसङ्कट रहित होकर शाश्वत सुखोपलब्धि प्राप्त करते हैं। अविद्यान्धकार के निवृत्त होते ही तमसः परस्तात् आदित्य वर्ण परम पुरुष परमात्मा की ही एकमात्र सर्वत्र व्याप्ति जानकर दुस्तर मृत्युजाल से सदा के लिये छूट जाते हैं। यही एकमात्र सद्गति लाभ के लिये वेदोक्तमार्ग है। **"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"**

स्वातन्त्र्याप्तिः साधनामन्तरा नो स्वातन्त्र्याप्तौ साधना शक्तिपूजा।
कल्याणानि प्राणिनां सैव सूते तस्मात्कार्या सा सदा साऽनुभावैः॥१४॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये आचार्यपादाः - स्वातन्त्रयसिद्धिमवाप्तुं शक्तिपूजैव परमोपायं मत्वा साधकान् तथा कर्तुमनुमन्यन्ते - समस्त वाञ्छितार्थ साधकैर्जनैः समस्तपदपदार्थान् व्याप्यस्थिता त्रिभुवन जननी भुक्ति-मुक्तिप्रदा नाना सौम्य घोर रूपधारिणी, विश्वशक्तिर्भगवती, महादुर्गैवोपास्या। यतो हि- देवासुरनरादयः शक्त्युपासनयैवातुल बलसम्पन्ना बभूवुरिति तदुपाख्यानेषु श्रूयते त्रयोऽपि

ब्रह्मादयोदेवाः प्रज्ञापौरूषादि लाभायतां नमस्कुर्वन्तु उपासते- "ब्रह्मा यस्यै हरिर्यस्यै रुद्रो यस्यै व्यधान्नमः। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः" इति तत्स्तुति वाक्येषु दृश्यतो सर्वतेजस्विषु तेजोरूपेण तस्या एव स्थितिर्निगदिता तेजसां च महेश्वरीति वचनात्। सैव तेजस्तत्वाधिष्ठात्री देवी महिष मर्दनाय देवगण शरीरेभ्यः स्वांश्तेजस्तत्व मादायैवात्मानं सिंहवाहिनी महादुर्गारूपेण प्रकटीचकार। यद्यपि शाक्तिशक्तिमतोरभेदात् एकस्याप्युपासनं द्वयो रेव सम्पद्यते, तथापि शक्तिमत्पूजनेऽपि शक्तिरेव पूज्यते। अशक्तं कः पूजयेत् सिद्धिकामः। सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता सा महादेवी वात्सल्यरस मन्दाकिनी भक्तान् कदापि नोपेक्षते, स्वस्य मातृत्वसुलभवात्सल्यमूर्तिमत्वात सर्वसिद्धिप्रदा महामहेश्वरी सा स्वपीनपयोधरद्वयस्नुतं भोग-मोक्षरूपं पयःपाययन्ती सर्वान् सुरानतिशेते।

कर्कशावतिकान्तौ तौ सर्वानन्द पयोनिधी,
भक्तान् सम्पत्ययेद्देवी सर्वकामदुधौ स्तनौ।

इति रहस्यावगतेः। तस्मात् कलौ विशेषेण शक्त्युपासनामेव फलप्रदां त्वैवाचार्यचरणः स्वसूक्तिपद्यद्वारा शक्तिपूजां समर्थयन्ति—

साधनामन्तरा, साध्यन्ते वाञ्छितार्था यया तां साधनां विना स्वातन्त्र्याप्ति र्नो भवितुमर्हति, साध्य सिद्धीनामिति शेषः। स्वातन्त्र्याप्त्यै समीहितार्थ लाभ सिद्ध्यै साधना शक्तिपूजैव केवलं नान्यत् किमपि। एवकारेणान्ययोगव्यवच्छेदः। यतोहि सैव महाशक्तिरेव प्राणिनां प्राणभृतां कल्याणानि ऐहिकामुष्मिक श्रेयांसि अभ्युदयनिःश्रेयस रूपाणि सूते उत्पादयति। तस्माद्धेतोः सा महाशक्तिपूजा, सानुभावैः, श्रद्धा-भक्तिभावसमर्चन सम्भारैः सहिताः सानुभावास्तैः साधकैः सदा सर्वकालं कार्या विधेया एवेति। अत्र कारणमालालङ्कारः "यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वास्यार्थस्यहेतुता" तदाकारणमालास्यादिति का.प्र. लक्षणात्। शालिनीवृत्तम् - शालिन्युक्ताम्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैरिति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद इस सूक्तिपद्य के द्वारा समीहितार्थ प्राप्ति के लिये शक्त्युपासना को ही सर्वोत्कृष्ट साधन बताते हुए साधकजनों को प्रेरणा दे रहे हैं— अनादिकाल से ही वर्णाश्रमाचारपरायण भारतीय मानव, सर्वशक्तिस्वरूपिणी भगवती आदि महाशक्ति श्री दुर्गाजी की शास्त्रविहित आराधना पद्धति से यथाशक्ति यज्ञानुष्ठान पूजोपहारादि समर्पण द्वारा धर्मार्थादि पुरुषार्थ सिद्धिलाभ करते आये हैं। आज भी श्रद्धाभक्ति भाव से यत्र तत्र सर्वत्र पुण्यतिथियों में हर्षोल्लास के साथ महाशक्ति पूजा महोत्सव मनाये जाते हैं। विश्वजननी, विश्वम्भरा, विश्वसंहर्त्री महाशक्तिदेवी के गुणकर्मानुगुण अनेक नामरूप, साधकों की अविचल

श्रद्धा भक्ति धारा के उद्गम स्थान हैं। गायत्री, सावित्री, सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा, महाकाली, चामुण्डा आदि अनेक नामरूप विग्रहधारिणी महाशक्ति की पूजा यथाधिकार यथासामर्थ्य ब्राह्मणादि चारों वर्ण करते रहे हैं, कर रहे हैं, और भविष्य में भी करते ही रहेंगे। **जिस महाशक्ति पराम्बा की समस्त चराचर जगत में व्याप्ति है, तथा जो चितिरूपेण सब को व्याप्त करके स्थित है, उस महाभय विनाशिनी, दुःखदारिद्रयहारिणी, सर्वरोगशोकसन्ताप निवारिणी, भुक्ति-मुक्ति प्रदायिनी, शरणागतवत्सला, करुणावारिधि, जगदम्बिका महाशक्ति की आराधना के बिना जीवजगत का कल्याण होना सम्भव नहीं है।** यह तथ्य आदिशङ्कराचार्य भगवत्पाद को भी स्वीकार करना पड़ा, जब वे काश्मीर मण्डल में परिव्याप्त शिव-शक्त्यद्वैत सिद्धान्तगत शक्ति के महत्व का निरास महाशक्ति शारदापीठ काश्मीर में ही करते हुए केवलाद्वयवाद की स्थापना में संलग्न थे, तब उन्हें अकस्मात् प्रवाहिकातिसार रोग ने इतना निर्बल कर दिया कि वे चलने फिरने से भी विवश हो गये। उनकी यह दशा देखकर अपारकरुणामयी महाशक्ति, दधिविक्रेत्री के रूप में प्रकट होकर उनसे रोगनिवृत्यर्थ दधिभक्षण करने के लिये कहने लगी— बाबा यहां आकर दही पी लो, ठीक हो जाओगे। तब श्री शङ्कराचार्यपाद ने उत्तर दिया कि मुझ में इतनी शक्ति नहीं है जो तेरे पास पहुँच सकूं, तू ही यहाँ आकर दही पिला जा। तब स्मितपूर्वाभिभाषिणी, दधिविक्रय लीलाविग्रहधारिणी भगवती शिवमहाशक्ति ने चुटकी लेते हुए कहा—तुम शक्ति का तो खण्डन करते फिरते हो फिर तुम्हें शक्ति कहाँ से मिलेगी। अब फिर ऐसा मत करना, लो दही खालो ठीक हो जाओगे। दही खा कर भगवत्पाद रोग मुक्त हो गये, तब उन्होंने शक्ति का महत्त्व स्वीकारते हुए स्तवन किया—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं। न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥ अतस्त्वामाराध्यां हरिहर विरिञ्चादिभिरपि॥ प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृत पुण्यः प्रभवति॥

भगवान् शिव को शक्ति सामर्थ्य तुम से ही प्राप्त होता है, अन्यथा वे स्पन्दन शून्य ही बने रहते। अतएव ब्रह्मादि देवगण की तुम सदैव आराध्य हो। तब अकृतपुण्य जन तुम्हारा प्रणति स्तवन करने में कैसे समर्थ हो? अतः महाशक्ति भगवती की आराधना से ही विशेषतः कलियुग में मानव ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न होकर वांछित लाभ अर्जित कर सकते हैं। ब्रह्मादि सभी देवगण महाशक्ति के भ्रू-सङ्केत पर ही अपना कार्य संभालते हैं —

बाबा बाबा सब कहें, मैया कहै न कोय,
बाबा के दरबार में मैया करै सो होय।

इसी तथ्य के आधार पर श्री आचार्यपाद ने अपने सूक्तिपद्य से शक्ति आराधन की प्रेरणा दी है - प्रत्येक मानव स्वाधीनता चाहता है, पराधीनता नहीं। स्वातन्त्र्य प्राप्ति ही सच्चा सुख है और पराधीनता दुःख है। **सर्वं परवशं दुःख सर्वमात्मवशं सुखम्।** परन्तु साधना

के बिना स्वतन्त्रता की प्राप्ति सम्भव नहीं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये साधना केवल मात्र शक्तिपूजा ही है, सर्वत्रभगवती शक्ति देवी का ही चमत्कार है। वही यन्त्रशक्ति, मन्त्र शक्ति, तन्त्रशक्ति, बुद्धि, स्मृत्यादि शक्ति शरीर बल वीर्य शक्ति के रूप में सर्वत्र विराजमान है। आधुनिक वैज्ञानिकों को उनकी कठिन साधना से ही विद्युत शक्ति का अभूतपूर्व वरदान मिला है। जिससे सभी कल कारखाने चल रहे हैं तथा बड़े से बड़े अन्तरिक्ष यानों को द्रुतगति प्राप्त होती है। योगशक्ति साधना के द्वारा योगीजन लोकलोकान्तर गमन, परकायप्रवेशादि क्षुद्र सिद्धियों तथा अणिमा महिमादि महासिद्धियों को प्राप्त कर चिरायुष्य प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार आस्तिक तथा नास्तिक जन अपनी योग्यता तथा अधिकार के अनुरूप येन केन प्रकारेण प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में भगवती महाशक्ति की आराधना करते ही हैं। **चिदचिन्मयी शक्ति ही जगदाकार से दृष्टिगोचर हो रही है।** यही सच्चिदानन्दरूपिणी महाशक्ति, सर्वानन्द पयोनिधि रूप अपनी स्तनद्वयी से भोग मोक्ष रूप पय का पान करा कर भक्तों के मानव जीवन को सफल सार्थक बनाकर उन्हें कृतार्थ कर देती है। इसी आशय से श्री आचार्यपाद ने अपनें अभिमत शाक्त सिद्धान्तानुसार शक्ति पूजा की आवश्यकता सूक्तिपद्य के द्वारा प्रदर्शित की है। इसलिये कि मानवों का सर्वविध कल्याण भगवती शक्तिदेवी के ही अधीन है, श्रद्धाभक्ति भाव पूर्वक कल्याणार्थी जनों को शक्ति पूजा करनी ही चाहिये—

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

राधाया हरिसङ्गमोत्सुकाया यामिन्यां यमुनातटे निशोथे।
भिन्दानस्तिमिराणि मार्गदीपो जातो यः स सुखं ददातु सोमः ॥१५॥

व्याख्या— रसराजमहोत्सवे षण्मासव्यापिन्यां रजन्यां शारदीं धवलज्योत्स्नां विकिरन्तं, राधिकाभिसार मार्गदीपमिव स्थितं गगनस्थं सोमं सुखाप्त्यै समभ्यर्थयन्तेऽत्र सूक्तिपद्येनाचार्य चरणाः —

यमुनातटे कालिन्दिकूले यामिन्यां निशायां निशीथेऽर्धरात्रे तिमिराणि तमांसि भिन्दानः भिन्दन् दूरीकुर्वत यः सोमः राकेशः हरेर्वियोमसन्तापहर्तुः श्रीकृष्णस्य सङ्गमाय संयोगाय उत्सुका उत्कण्ठिता तस्या राधाया भगवदात्मरूपाया रासेश्वर्याः मार्गदीपः, मार्ग पन्थानं दीपयति प्रकाशयतीति तादृशः सः, मार्गध्वान्त ध्वंसकारी जातः स सोमः, सुष्ठु अनुकूलं खेभ्य इन्द्रियेभ्यो यत् तत् सुखं परमाह्लादं ददातु प्रयच्छतु। अस्मभ्यमिति शेषः। अत्र ज्ञानप्रकाशजन्यं सुखम्। अज्ञानध्वान्तजन्यं दुखम्। तमसो मा ज्योतिर्गमयेति श्रौतादेशात् दुःखैकमात्रहेतुमज्ञानं

विनाश्य सुखैकमात्रहेतुं रासविहारि भगवत्तत्त्वज्ञानमस्मभ्यं सोमोददातु। यद्वा उमया चिच्छक्त्या सहितः सोमः आह्लादकत्वाच्चन्द्रः, शक्तिशक्तिमदद्वयलीला रसज्ञानां भवनिमग्न भक्तानां मनस्यानन्द सुखावाप्तिं जनयतु इति। अत्र यामिन्यां सोमे मार्गदीपत्वारोपाद्रूपकमलङ्कारः। अभिसार सौकर्ये मार्गदर्शनकर्मणा चन्द्रमसोपकार करणात् समाधिरलङ्कारश्च – "समाधिः सुकरं कार्यकारणान्तर योगात्" इति का.प्र. तल्लक्षणात्। अत्रैकादशाक्षर त्रिष्टुब्वृत्ति प्रस्तारभेदेषु इदमन्यतमं वृत्तमवगन्तव्यम्। प्रसिद्धिभेदेष्वस्या दर्शनात्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने इस सूक्तिपद्य के द्वारा गर्ग संहिता आदि ग्रन्थों के आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण की पाणिगृहीता स्वकीया नित्यसङ्गनी आह्लादशक्ति श्रीराधाजी के परकीया भाव से यमुनातट पर निशीथकाल में श्रीकृष्ण मिलन सन्दर्भ में तत्कालीन उद्दीपन विभावरूप मार्गदर्शक गगनदीप सोम (पूर्णचन्द्रदेव) से भगवद्भक्ति भाव विभोर भक्तजनों के शाश्वत सुख की कामना की है - शरदोत्फुल्ल मल्लिका - शरद ऋतु की चन्द्रज्योत्स्ना धवल अर्धरात्रि के समय, यमुना तट पर विराजे श्रीहरि (श्रीकृष्ण) से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा लेकर पदार्पण करती हुई श्रीराधाजी के मार्गगत गाढान्धकार का निवारण करते हुए जिन सोम (चन्द्रदेव) ने अवायुनिर्वाप्य मार्गदीप की भूमिका का निर्वाह किया है, वे सोम सभी भगवद्भक्तजनों को अभीष्ट सुख प्रदान करें। श्री रासेश्वरी रासेश्वर के दिव्य अलौकिक रास लीलोत्सव समारोह काल में षण्मासव्यापिनी यामिनी, अविचल सम्प्रभ चन्द्र देव के शुभ्रशीतल प्रकाश से दर्शक- वैमानिकजनमनोहारिणी हो उठी थी। वहाँ स्वयं पूर्णानन्द रस अपने आप में ही विभावादि व्यूह की कल्पना करके रास क्रीडा प्रसक्त था।

रसो वै सः, रसं लब्ध्वा ह्येष आनन्दी भवति भगवान श्रीकृष्ण स्वयं रसस्वरूप हैं। ये जब स्वेच्छा से स्वरूपाभिन्न रस का साक्षात्कार चाहते हैं, तब वे अपने आप में द्वितीय की कल्पना कर लेते हैं, क्योंकि आलम्बन तथा आश्रय के पार्थक्य के विना रस-रूप परमात्मा की आत्मरमण क्रीडा (रासलीला) सम्भव नहीं होती— **स एकाकी न रमते, द्वितीयमैच्छत्।** यत द्वितीय रासेश्वरी श्री राधिकाजी ही हैं। श्री राधाजी स्वाभिन्न श्रीकृष्ण की आत्मा ही हैं। आत्मरमण लीला के लिये ही भगवान् के वामाङ्ग से प्रादुर्भूत होकर श्री राधाजी ने ब्रह्मवैवर्त पुराणानुसार अपने रोम कूपों से रासक्रीडा सहायक अनेक गोपिका गणों का सृजन किया था। इस रहस्य की सुस्पष्ट अवगति निम्न वचनों से हो जाती है —

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।
आत्माराम इति प्रोक्तस्तयैव रमणादसौ॥
एकं तेजो द्विधाभूतं राधामाधवरूपकम्।
क्रीडनार्थं द्विधाभूत आत्मारामो[illegible]॥

अतः श्रीकृष्ण भगवान ने स्वस्वरूपाभिन्न श्री राधिकाजी, तथा उनकी सखियों के बीच रसोद्रेक लीला (रासक्रीडा) इस प्रकार की कि जैसे बालक अपनी परछाई से खेलता है, तथा अपनी ही परछाई को अपने से भिन्न मानकर उससे आनन्द का अनुभव करता है — **रमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्ब विभ्रमः** श्रीमद्‌भागवत महापुराण के रासलीला प्रकरण गत उक्त वचन के द्वारा भगवान की रासक्रीड़ा का निर्द्वन्द्व वास्तविक रहस्य अवगत हो जाता है — **या श्रीकृष्णमाराधयति सा राधा, या च श्रीकृष्णेन आराध्यते सा राधा** इस निर्वचन से दोनों का ही पारस्परिक आराध्य-आराधक सम्बन्ध सुस्पष्ट है। आत्मक्रीडा आत्मरति की अभिव्यक्ति के लिये एक ही तेजस्तत्त्व राधा और माधव के रूप में प्रकट हुआ है।

श्रीकृष्ण के रूप में श्यामवर्ण श्रृङ्गार रस का प्राकट्य हुआ है। रूपरस का परिपाक श्रृङ्गार रस से होता है। गौर वर्ण रूप की चरम परिणति श्याम वर्ण श्रृङ्गार में ही होती है। श्याम रंग पक्का रंग है, सब रंगों को अपने में समा लेता है। गौर वर्ण रूपराशि का प्रवाह श्यामसागर में मिलकर श्यामवर्ण हो जाता है — **कृष्ण कृष्ण कहती थी, मैं कृष्ण कृष्ण हो गई - यद्देव ध्यायति तद्देव भवति।** वाग्विनोदवार्ता प्रसङ्ग में किसी सखी ने श्रीराधाजी से पूछा— "आप तो गौर वर्ण हैं, आपके प्रियतम श्री श्यामसुन्दर श्याम वर्ण क्यों हैं?" तब श्रीराधाजी ने अपनी कृष्णैकध्यानयोगनिष्ठा की अभिव्यक्ति के लिये किन्हीं हिन्दी कविमहोदय की शब्द रचना के माध्यम से कहा—"कजरारी अंखियांन में बस्यौ रहत दिनरात, प्रियतम प्यारौ हे सखी या ते सांवल गात।" यों श्री राधा माधव दोनों एक होकर भी रासक्रीड़ा प्रसक्ति में पृथक् पृथक् तथा क्रीडार्थ पृथक् होकर भी परमार्थ दृष्ट्या एक ही हैं। अस्तु श्री आचार्यपाद ने अपने मनोभावगत एक ही भगवत्तत्त्व के राधाकृष्ण रूप के मिलन में उद्दीपन साहाय्य कृत गगनदीप चन्द्रमा की विशेष भूमिका का निर्देश करते हुए श्रीकृष्णालम्बनक निशीथकाल यमुना तट चन्द्रोद्दीपनक राधानिष्ठ रति स्थायी भाव की अभिव्यक्ति से श्रृङ्गार रस ध्वनि तथा रस ध्वनि से चन्द्रदेव विषयक रत्यभिव्यक्ति से भावध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत किया है। अनियन्त्रित शब्दव्यापार द्वारा अन्यार्थ की अभिव्यक्ति भी सम्भव हो सकती है — भक्ति रस धारा वाहिनी यमुना के तट पर स्थित, पापतापहारी श्रीहरि (आत्म देव) के मिलन (तादात्म्यापत्ति) के लिये उत्कण्ठित तथा (आत्मोपासिका चित्तवृत्ति) के संसृतिमार्गगत मोहमयी यामिनी के गाढान्धतमस का ज्ञानप्रकाश से निवारण करके सन्मार्ग आलोकित कर देने वाले सोम (उमा-चित शक्ति से युक्त चिद्‌घनानन्द महेश्वर) हमें आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक शाश्वत सहज आत्मानन्दानुभूति प्रदान करें।

मनुजा निजधर्मकर्मशीलाः सुखसाधन-राष्ट्रनीतिविज्ञाः।
मतसैकमता भदन्ति यस्यां वसुधा सुरराजधाम सा स्यात्॥१६॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये श्रीमदाचार्यपादाः स्वविचारमाध्यमेन राष्ट्रं समुन्नतं सम्भाव्य सुरराजलोकेन तत् तुलयन्ति —

यस्यां वसुधायां मनुजा, मानवा निजधर्म-कर्मशीलाः, वेद-बोधित सनातन धर्मानुकूलाचरण परायणाः, सुखसाधन राष्ट्रनीतिविज्ञाः - सुखसाधन भूताया राष्ट्रनीतेः राष्ट्रसमुन्नयन विधि सिद्धान्तस्य विज्ञाः मर्मज्ञाः, तथा च - मतसैकमताः - मते, सद्भावपूर्ण समान सैद्धान्तिक विचारे एकमतेन ऐक्मत्येन सहिताः समानधारणावन्तः। मनसैकमता इति पाठे - मनसा अन्तःकरणेनैव केवलमात्मवेदं सर्वं, मित्यात्मवत् सर्वभूतानि पश्यन्त एकमता विश्वात्मभावनया अन्योन्य सहयोग साहाय्यदायिनो भवन्ति, सा वसुधा वसूनि धत्ते इत्यन्वितामिधाना भूमिः, सुरराजो देवेन्द्रस्तस्य धामलोकः स्यात्, स्वर्गलोकवत् सुखदा भवेत्।" अर्थात् यत्र राष्ट्रे समान सद्विचारशीला धर्मशास्त्रोदिते स्वे स्वे कर्मण्यभिरताः सर्वसुखहेतु धर्मनियन्त्रित राजनीतितत्त्वज्ञाः परस्पर सहयोगिनो मानवा निविसन्ति तद्राष्ट्रं भूतलेऽवतीर्णः स्वर्गलोक इव भवेत्। अत्र "सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्"- "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्", "आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी" इत्यादि नैगमार्थमास्थायैवाचार्यपादैरुद्बोधनं दत्तम्। न तु धर्मप्राण भारत देशे, धर्मनिरपेक्ष भावनया, मनुजाः, धर्मसाङ्कर्ये, कर्मसाङ्कर्ये, वर्णसाङ्कर्ये, वेशसाङ्कर्ये, भोजनसाङ्कर्ये, भाषासाङ्कर्ये, शिक्षासाङ्कर्ये, विचारसाङ्कर्यादिषु तदौचित्य धारणावन्तो जना अपेक्षन्ते। धर्म-प्राण सत्पुरुषाणामेव सुरराजधाम प्राप्त्यधिकार श्रवणात्। तथात्वेतु राष्ट्रमिदं धार्मिक व्यवस्थांविना अनाचार-अत्याचार-व्यभिचार-भ्रष्टाचार-अविवेक-अदूरदर्शिता-संघर्षमय स्वार्थलोलुपत्वादि दुर्गुण पराहतैर्नरपशुत्वमाप्तैर्मनुजैः परस्परं हिंसातङ्कादि प्रवृत्तिमद्भिस्तैर्घोरकष्टप्रद नरकलोक सममेव स्यात्। न तु स्वर्लोक समम्। अत्र राष्ट्रे एकता सद्विचारवत्येव ग्राह्या। न तु असद्व्यवहारिकी। व्यवहारभेदस्तु भेदभयसृष्टौ दुर्निवार एवेति भावः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारोतिशयोक्तिर्वा, तयोर्लक्षणं काव्यालङ्कारसूत्रे —

अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमुत्प्रेक्षा ।

लोकेसम्भाव्यधर्मस्यतदुत्कर्ष कल्पनातिशयोक्तिः ।

अत्र वसुधायामुत्कृष्ट गुणधर्मादिकं सम्भाव्य सुरराजधामत्वमुत्प्रेक्षितम्। "भवेतसम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेणयत्" इति काव्यप्रकाशे लक्षणम्।

अत्रौपच्छन्दसिकं वृत्तं प्रतिपादनिष्ठम् न तु विषमपादे गुर्वाधिक्यम्। अथवा त्रिष्टुव्वृत्ति गतवृत्त भेदस्य कस्यचित् प्रस्तार भेदवृत्तमत्र विभाव्यम्। आचार्यपादानां सर्वतन्त्रस्वतन्त्रत्वात् अव्याहतगतित्वम्।

भावार्थ— इस सूक्तिपद्य के द्वारा श्रीआचार्यपाद ने रत्नगर्भा भारत वसुन्धरा की सुरराजधाम (स्वर्गलोक) से सम्भावित समता उत्प्रेक्षित करते हुए, तदर्थ श्रुतिसिद्धधर्म से मर्यादित आर्यमानवों के सदाचरण को हेतु रूप में निर्धारित किया है — सभी भारत देशवासी वर्णाश्रम धर्मावलम्बी मानवसमाज, यदि वेदबोधित सत्य सनातन धर्मानुकूल सदाचरण-परायण हो जाए, तथा राष्ट्रनायक वर्ग धर्मनियन्त्रित राजनीतिशास्त्र के मर्मज्ञ होकर सत्य न्याय पर आधारित स्वच्छप्रशासन दे सकें, एवं सभी भारतराष्ट्रवासी जन सद्भावना पूर्ण धर्म-मर्यादित हिन्दू संस्कृति के अनुरूप सद्विचारों में एकमत्य स्थापित कर लें - अर्थात् सभी मानव स्वस्वाधिकार तथा योग्यता के अनुसार सभी प्राणिवर्ग में आत्मदर्शन करते हुए, परस्पर एक दूसरे को सहयोग साहाय्य देने के अभ्यासी हो जाएँ तो यह भारतराष्ट्र, समस्त दुःखसङ्कट विमुक्त होकर अभिलषित सर्वसुखास्पद- स्वर्गलोक का अनुपम सादृश्य प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत- विश्व में जिस देश की पहचान आर्यमानवधर्म द्वारा ही सदा से हुई है, उस धर्मप्राण भारत देश के निवासी मानव, भारतीय मानव धर्म की अवहेलना करके दूषितान्तःकरण हो जायेंगे तो यह देश अनाचार, अत्याचार, दुराचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, अविवेक, अदूरदर्शिता, सङ्घर्षमय स्वार्थलिप्सा आदि अमानवीय दुर्गुणों का आवासगृह बन जायेगा, जिससे देश की पुरानी पहचान तो नष्ट होगी ही, साथ ही पारस्परिक हिंसा, आतङ्क, लूट-पाट आदि दुष्प्रवृत्तियों से घिरा हुआ मानव आहार, निद्रा, भय, मैथुन तक सीमित रहने वाले पशुओं का साम्य ग्रहण कर लेगा तथा अपने दुराचरण से आरण्यक हिंस्र पशुओं से भी बहुत आगे पहुँच जायेगा।

तब यह देश घोर कष्टप्रद नरक लोक के सदृश हो जायेगा। वर्णाश्रमधर्मविहीन देश को शास्त्रों में म्लेच्छ देश कहा गया है — **वर्णाश्रम व्यवस्थानं यस्मिन्देशे न विद्यते, स म्लेच्छदेशो विज्ञेयः** म्लेच्छ देश का धर्मनिपेक्ष स्वरूप सत्य अहिंसा, सदाचार को इसलिये नहीं चाहता कि वे धर्म के अन्तर्गत ही हैं — "**न हि सत्यात्परो धर्मः, अहिंसा परमोधर्मः, आचारः परमोधर्मः**" जहाँ धर्म की अपेक्षा होती है, वहीं सत्य, अहिंसा, सदाचार, न्याय स्थिर रहते हैं। जो देश अहिंसा, सत्याग्रह रूप धर्म के बल से स्वतन्त्रता प्राप्त कर सका है वही आज धर्मनिरपेक्ष होकर अहिंसा सत्य न्याय आदि से आचार्यपाद भारत राष्ट्र को सुरराजधम के सदृश देखना चाहते थे। यह सम्भव नहीं हो सका।

श्री आचार्यपाद के सूक्तिपद्य में निर्देशित मार्ग को अपना लिया गया होता तो आज यह भारत राष्ट्र धर्मिक सहिष्णुता, भ्रातृत्व प्रेम, सौहार्द्र, औदार्यादि मानवीय गुणालङ्कृत होकर अपनी प्राचीन लोक हितकर परम्परा बनाये रख सकता था तथा तभी स्वतन्त्रता प्राप्ति निमित्त किया गया अहिंसा, सत्याग्रह आन्दोलन और भारतीय वीरों का आत्मोत्सर्ग सफल तथा सार्थक सिद्ध होता।

विभिद्य मर्माणि दुरुक्तिबाणैः प्रियं जनं तोषयितुं यतन्ते ।
को वा भवेऽभाग्यवतो जनास्तान् भवं बिना बोधयितुं समर्थः ॥१७ ॥

व्याख्या– "नारुन्तुदः स्या दार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत" इतिमनूक्तमनादृत्य दुरहङ्कारिणो जनाः स्ववाग्बाणैः पूर्वं व्यथयन्ति, पुनस्तं प्रसादयितुं छलेन यतन्ते, ते जना जघन्या निन्दनीया एवेति सूक्तिपद्येनाभिदधते श्रीमदाचार्य प्रवराः –

ये दुर्वाचो जना दुरुक्तिबाणैः दुर्वचनशरैर्मर्माणि हत्मर्मस्थलं विभिद्य प्रहत्य प्रियं जनं पश्चात् तोषयितुं कूट कपटोक्त्या प्रसादयितुं यतन्ते, प्रयस्यन्ति, भवे संसारे तान् अभाग्यवतो जनान् आत्मप्रवञ्चकान् मानवान् (जनस्य दौर्भाग्यमेवैतत् यद्गर्हितं कर्म कर्तुं प्रवर्तते) ते प्रहत्यव्रणलेपनं कुर्वन्ति। तद्विधान् जनान् भवं सर्वसमर्थं शिवं विना कोऽन्यो बोधयितुं तदनाचार प्रबोधं कर्तुं समर्थः स्यात्; न कोऽपि इति भावः। तादृशान् मानवधर्म विमुखान् यथोचितं दन्डयित्वा शिव एव सन्मार्ग मानेतुं क्षमते नान्यः कश्चित्पुरुष इत्याशयः। अथवा - "स्वसूक्ति पीयूषेत्याद्यग्रिम सूक्तिपद्य स्वारस्येनेत्थमर्थो विभाव्यः" - ये कुकवयः प्रातिभज्योतिर्विहीना देश काल पात्राद्यनभिज्ञाः काव्यकर्मण्यकुशलाः काव्यशास्त्रविरुद्धदिशा स्वदुरुक्तिवाणै सहृदयानां मर्माणि विभिद्य स्वकाव्यश्रवणेन प्रियं जनं, जातावेकवचनात् प्रियान् स्वादुकाव्यश्रवणरुचीन् तोषयितुमानन्दयितुं यतन्ते प्रयतन्ते तान् ज्ञानलवदुर्विदग्धान् ब्रह्मादिभिरप्यबोध्यान् सर्वसमर्थः शिव एव बोधयितुमर्होनान्यः। प्रातिभज्ञानसम्पन्नाः सहृदया दुःखशतानि सोढुं वरं मन्यन्ते, न कुकवि काव्यश्रवण माद्रियन्ते इति।

अत्र छेकानुप्रासः शब्दालङ्कारः। मर्मवेध-तुष्टिकरणयोर्विरुद्ध व्यापारयो रनुपपद्यमानतया विषमालङ्कारः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रेवज्रयोर्व्यामिश्रणादुपजाति वृत्तमत्र – "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ– जिन प्राकृत पुरुषों विरञ्चि सम भी कोई गुरु चेत नहीं दे सकता, उन गर्वी, दुर्वचनी, हठी, अप्रियवादी, किसी की बात न मानने वाला, इन पाँच मूर्ख लक्षणों से लक्षित, देशकाल पात्रोचित वाग्व्यवहार शून्य, असत्पुरुषों के लोक निन्दित स्वभाव की भर्त्सना करते हुए श्री आचार्यपाद ने सूक्तिपद्य द्वारा उनके प्रकृति परिवर्तन की असम्भावना प्रस्तुत की है। अथवा अचमत्कृत रचना-पाठक कुकविजन के द्वारा पठित स्वर-वर्ण-संस्कार रहित

कविता पाठ से, सुनने वालों के मानस-असन्तोष को स्वमनोगत करते हुए श्री आचार्यपाद ने तथाविध अपरिहार्य असमीचीनता पर प्रकाश डाला है— जो दुर्मानव कर्णकटु दुर्वाक्यबाणों से अपने प्रियजन के हृदय मर्मस्थल को व्रणित कर देने के पश्चात् उसे सन्तुष्ट करने के विचार छलकपटपूर्ण बनावटी वाग्व्यापार द्वारा घाव पर मरहम लगाने का नाटकीय आचरण कर अपनेआप को चतुर समझ लेते हैं, वे असमीक्ष्यकारी जन अपने असदाचरण के कारण दुर्भाग्यशील ही होते हैं। दुर्भाग्यवश ही उनको दुःस्वभाव मिला होता है। वे यह नही समझ पाते कि तलवार का घाव तो कुछ दिनों में भर जाता है, किन्तु दुर्वाग्बाणकृत घाव कभी नहीं भर पाता। वह तो आजीवन हृदय में कसकता ही रहता है। ऐसे दुर्मानवों की समझ में परिवर्तन केवल **कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ** भगवान शिव ही ला सकते हैं कि किसी भी प्राणी के प्रति लोकनिन्दनीय दुर्वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। परद्रोह कर्म त्याज्य है। द्रोह करने वाले को सदा भयभीत रहना पड़ता है **"द्रोग्धुर्वै परतो भयम्"** अपने दुर्व्यवहार के द्वारा किसी के हृदय मर्मस्थल को चोट नहीं पहुँचाना चाहिये। परपीड़ा के समान कोई दूसरा अधर्म कार्य नहीं होता। धर्मशास्त्रानुसार परपीड़क परनिन्दक जन पीड़ित जन के पाप ग्रहण कर लेते हैं तथा अपने पुण्य उसे दे देते हैं। यह मानव धर्मशास्त्रोक्त धर्मनीति के अन्तर्गत अपरिहार्य नियम है। भारतीय आर्य सत्पुरुष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष के वशीभूत नहीं होते।

स्वसूक्तिपीयूषरस प्रवाहैर्ये तोषयन्ते स्वजनं समस्तम्।
निर्माय कल्याणपथं भवे ते सन्तोषमन्तः सततं वहन्ते॥१८॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये— पूर्वसूक्तिपद्यार्थ वैपरीत्येन रसास्वाद सुखदश्रवणसुधाप्लावित - चमत्कृत- रचनाकारान् सत्कवीनभिनन्दन्तयाचार्यवर्याः—

ये सत्कवयः चमत्कृत काव्यरचनाकाराः स्व सूक्ति पीयूषरसप्रवाहैः स्वरचितकाव्य सुधारसपूरैः समस्तं श्रोतृवर्गं स्वजनं तोषयन्ते रसास्वादसुख पिण्डदानेनानन्दयन्ति। ते सत्कवयः भवे जगति कल्याणपथं लोकाभ्युदय श्रेयो मार्गं स्वकाव्यबोधित साधुजीवन सिद्धान्तदिशं निर्माय विरच्यान्तर्मनसि सततं निरन्तरं सन्तोषं मनस्तुष्टिं वहन्ते धारयन्ति। स्वस्य काव्यमयवपुषा निरामय चिरजीवित्वलाभात्। "उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्ध विधायिनाम्" आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुरिति। साधुमार्गदर्शनेन ते परान् सन्तोष्य स्वयमप्यन्तः सन्तुष्यन्ति। तद्विपरीतास्तु स्वयंनष्टाः परानपि नाशयन्तीति भावः। अत्र स्वान्तः सन्तोषपूर्व वाक्यार्थस्य हेतुत्वात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। पूर्ववदत्रापि उपजाति वृत्तमेव।

भावार्थ– विभिद्य मर्माणि... इस पूर्व सूक्तिपद्य के द्वारा श्री आचार्यपाद ने उन अमानवीय उदूर्वचनप्रयोक्ता दुर्मतिमानवों के असद्व्यवहार से भारी मानस असन्तोष व्यक्त करते हुए उनके अपरिवर्तनशील दुःस्वभाव की चर्चा की थी। अब इस सूक्तिपद्य के द्वारा उन काव्य शास्त्र पारङ्गत सत्कवियों का अभिनन्दन किया है कि जो ब्रह्मास्वादसहोदर श्रवण सुखद काव्य रस का प्रसाद वितरण करके सहृदय श्रोताओं या पाठकों को आनन्द-निमग्न कर देते हैं। वैसे तो आपातदृष्ट्या सभी मानव, मानव रूप से ही दृष्टिगोचर होते हैं, और सभी स्वप्रकृति के अनुरूप देखते, सुनते, बोलते हैं, किन्तु विवेकी पुरुषों को, वाग्व्यवहार मात्र से ही उनमें सुकवि-कुकवि, सज्जन-दुर्जन का अन्तर स्पष्ट परिज्ञात हो जाता है।

श्रवण, नयन, मुख, नासिका सब ही के इक ठौर।
सुनिबो, लखिबो, बोलिबो, सज्जन को कछु और॥

श्रीआचार्यपाद ने लोकदृष्ट दुःस्वभाव पुरुष या कुकविजनों का परिचय, अपने पूर्व सूक्तिपद्यार्थ के द्वारा सङ्केतित कर दिया है। अब इस सूक्तिपद्य के द्वारा सज्जनों तथा वाग्वैदुष्य-कलाधर सत्कवियों, सद्ग्रन्थप्रणेता शास्त्रज्ञों के लोकहितकारी जीवन पथ का दिग्दर्शन कराया है - जो चमत्कारपूर्ण रचनाकार सत्कविजन, अथवा आस्तिकजन समाश्रयणीय - लोक वेद मार्गोपदेष्टा, सर्वशास्त्रज्ञान कुशल, सत्पुरुष होते हैं, वे लोकहित की दृष्टि से स्वरचित काव्य-शास्त्रादि सद्ग्रन्थों के द्वारा सुवचन और सुधारसवर्षण करके समस्त श्रोता या पाठकों को सदा आप्यायित करते हुए सभी के अभ्युदय श्रेयोरूप कल्याणमार्ग का निर्माण करके सभी मानवों को आत्मतुष्टि प्रदान कर देते हैं तथा वे स्वयं भी अपने लोकहितचिन्तक जीवन से आत्म सन्तोष का अनुभव करते हैं। ऐसे परमार्थपथ के पथिक सत्पुरुष, अपने पाञ्चभौतिक शरीर के कालप्राप्त माया जवनिकाच्छन्न हो जाने पर भी स्वनिर्मित साधुकाव्य या अन्य उपादेय सद्ग्रन्थ रूप अजर अमर निरातङ्क चिरायु शरीर से, लोक में सदा विराजमान रहते हैं तथा स्वनिर्मित ग्रन्थवर्तिज्ञानप्रभा से मानवों के जीवन पथ को सदैव आलोकित करते रहते हैं। ऐसे ही परार्थघटक महापुरुषों का जीवन धन्य है कि जो क्षणभङ्गुर शरीर से सारस्वत वाङ्मय के द्वारा आजीवन जनता जनार्दन की सेवा करते हुए आत्मविलीन हो जाते हैं, और चिरकाल तक श्रद्धालु मनीषियों के हृदय सिंहासन पर सदा विराजते हैं। इसके प्रतीप लोक तथा शास्त्रोपदेश के विपरीत आचरण करने वाले अनीश्वरवादी केवल भोग विकास वादी दुर्मानव, स्वयं तो नष्ट होते ही हैं, औरों को भी भ्रान्त दिशा में भटका कर उनके देवदुर्लभ मानवजीवन का सत्यानाश कर डालते हैं। अपने कुत्सित विचारों को विवेकहीन जनसमुदाय पर थोप कर सन्मार्ग भ्रष्ट कर देते हैं। ऐसे पथभ्रष्ट कुकविजन तथा असत्सम्प्रदायोपदेशक धूर्त पुरुषों से सावधान रहते हुए सन्मार्ग का परित्याग नहीं करना चाहिये। धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय सहायक साधुकाव्य का ही सदा निषेवण कर्तव्य है।

स्थानानि सर्वाण्यपि सिद्धिमन्ति भवन्ति सद्विप्र निषेवितानि।
सद्भावमायान्ति श.ेन विप्रा यथा यथाऽन्तर्मुखतां भजन्ते ॥१९॥

व्याख्या—

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय चेति ।।

धर्मानुरूप तपोनिष्ठाः संयताः सद्विप्राः आश्रम परम्परया यत्र वसन्ति, तत् स्थानं सिद्धिक्षेत्रं तीर्थरूपञ्च भवति, उत्कृष्ट तपः परमाणु व्यापृतत्वात्तस्येति, सद्विप्रैस्तत्राचरित श्रौतस्मार्ताद्यनुष्ठान बाहुल्यात् तत्स्थानं सिद्धपीठपदेनाप्यभिधीयते—

जातो लक्षवलिर्यत्र होमो वा कोटिसंज्ञकः,
ब्रह्मविद्याजपो यत्र सिद्धपीठः स उच्यते, इति ।

विद्यातपोभ्यां संसिद्धविप्राधिष्ठितानि स्थानानि सिद्धिप्रदान्येव भवन्ति सिद्धिसाधकानामित्याचार्यपादास्तन्महत्त्वं स्वसूक्तिपद्येनेत्थमभिदधते —

सन्तोऽधीतविद्या, विद्वांसस्तपस्विनो विप्र संज्ञकाः - "जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते इति मानव धर्मानुशासनात्। तैः सद्विप्रैर्निषेवितानि स्ववास धर्मानुष्ठानादिना पवित्रीकृतानि सर्वाण्यपि स्थानानि भूखण्डानि सिद्धिमन्ति, सिद्धयस्तन्त्रयोगादि शास्त्र प्रसिद्धाः सन्ति येषु तानि, भवन्ति जायन्ते। अथ विप्राः कथं सद्भावं प्रपद्यन्ते, इत्याहुराचार्याः - ते विप्रा यथा यथा ज्ञानं विज्ञानापहत तमः सम्पर्कादन्तर्मुखतां भजन्ते, पराङ्दर्शनं विहायावृत्त चक्षुषो भवन्ति, भ्रान्त्या प्रतीतमिदं जगत्प्रपञ्चमसदिति मत्वा स्वात्मन्येवावतिष्ठन्ते, इति भावः। तथा तथा शमेन अन्तरिन्द्रिय प्रशान्त्या (मनःस्थैर्येण) सद्भावमायान्ति। असतो मा सद्गमयेति, असद्विहाय सद्रूपतामापद्यन्ते, ततस्ते विप्राः सद्विप्रा इत्युच्यन्ते। पराग्दर्शनं निरस्य प्रत्यगात्मदर्शिनो भवन्ती- त्याशयः। अलङ्कारोऽत्र कारणमाला काव्यलिङ्गं वा। पूर्ववदुपजातिवृत्तमत्रापि।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने इस सूक्तिपद्य से भक्ति ज्ञान विराग शमदमादि के साक्षात मूर्तिमान रूप विद्या-विनय सम्पन्न उन सद्विप्रों का स्मरण किया है कि जिनके द्वारा आश्रमनिवेश, तपश्चर्यास्थल, यथेच्छ भ्रमण आदि से पवित्रित यह भारतभूमि अनेकों सिद्धक्षेत्रों

नैमिषारण्य बदरिकारण्य धर्मारण्यादि, पुण्यारण्य, एवं गङ्गादि नदियों, अन्य पवित्र तीर्थ सरोवरों, सिद्धिप्रद भूधरों के दर्शन, स्नान, दान, जप, होमादि पुण्य कार्यों से मानव जगत् के परम कल्याण के लिये विश्वविख्यात है।

यदि जङ्गम तीर्थरूप शमदमाद सम्पन्न तपस्वी सद्विप्रवृन्द उन पुण्यस्थलों को अपने आवासादि से अनुगृहीत न करते तो वे स्थान लौकिक-पारलौकिक सिद्धिप्रद कदापि न होते। जिनके स्वैरभाषण भी शास्त्र बन जाते हैं, उन लोकोपकारक वीतराग त्रिकालदर्शी सद्विप्रों के चरणरज-स्पर्श मात्र से अशुचि भूखण्ड भी सुपवित्र तथा सिद्धिप्रद क्षेत्र बन जाते हैं।

मानव धर्म के अनुसार- जन्म से ब्राह्मण, वैदिक संस्कारों से द्विज, साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन कर लेने पर विप्र, तथा जाति-संस्कार-वेदादि वैदुष्य से श्रोत्रिय ब्राह्मण कहा जाता है। यदि तीनों ही प्रकार से उत्तम ब्राह्मण शमदमादि साधन सम्पत्ति के द्वारा पराङ्मुखता त्यागकर अन्तर्मुखवृत्ति हो जाते हैं तो वे श्री आचार्यपाद के शब्दों में सद्विप्र कहलाते हैं। सद्विप्रों से ऐसे निषेवित भारत भूखण्ड सिद्धक्षेत्र हो जाते हैं। वहाँ साधक-जन निर्विघ्न मनोभिलषित सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। परामनोविज्ञान, परकाय प्रवेशादि छोटी सिद्धियाँ तथा अणिमा महिमादि आठ विशेष महासिद्धियाँ, योगसाधन द्वारा सिद्धक्षेत्रों में रह कर गुरु सान्निध्य में प्राप्त की जाती हैं। जहाँ सन्त कोटि के उच्चादर्श, लोकहितनिरत, श्रुतिस्मृति पुराण दर्शनादि विद्यापारङ्गत सद्विप्र महापुरुष, अपनी वर्णाश्रम परम्परा के अनुसार नित्यकर्मानुष्ठान अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास चातुर्मासादि श्रौत स्मार्त यज्ञ, व्रत, तप, नियम, सदाचारादि का वैदिक विधान से निर्वाह करते रहे हों, तथा औपनिषद ज्ञान विज्ञान की अजस्र धारा प्रवाहित करते रहे हों, वे भूखण्ड अपने पूर्वकाल में कैसे भी रहे हों तो भी उन सद्विप्र महाभागों की चरणधूलि स्पर्श-मात्र से उत्तम सिद्धक्षेत्र एवं पवित्र तीर्थ बन जाते हैं। **उन सिद्धक्षेत्रों में प्रवेश करते ही साधारण अशान्तचित्त प्राकृत पुरुषों का भी मन समाहित हो जाता है।**

वहाँ की भूमि आकाश वायु सलिल सब के सब अन्तःकरण को निर्मल कर देने वाले स्वच्छतम परमाणुओं से व्याप्त रहते हैं। यही कारण हैं कि वहाँ के वन्य प्राणी भी नैसर्गिक वैर भाव त्याग कर परस्पर सौहार्द से रहते हैं। अहिंसा, सत्य, न्याय, परोपकार, त्याग, तपश्चर्या का वहाँ साम्राज्य होता है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि जिस स्थान पर जिस प्रकृति के मानव चिरकाल तक रहें हों, वहाँ उसी प्रकृति के अनुकूल परमाणु छाये रहते हैं। किसी प्रत्यक्षदर्शी विद्वान का यह भी कथन है कि किसी महात्मा के आश्रम में प्रवेश कर महात्मा के निकट पाँच मिनट तक मौन बैठे रहने पर जो भाव मन में उत्पन्न हो जाय तो यह समझ लेना चाहिये कि ये महात्मा वैसी ही प्रकृति के पुरुष हैं। किन्तु यह परिज्ञान करना निर्मल मन, समाहित मनोवृत्ति वाले पुरुष के लिये ही सम्भव होता है, चञ्चल चित्त संसार वासनामय पुरुष के लिये सम्भव नहीं होता। वहाँ के परमाणु हृदय तथा मस्तिष्क पर अपना प्रभाव अवश्य डालते हैं। अतः सिद्धि प्राप्ति में सहायक सात्त्विक परमाणुओं के वहाँ व्याप्त रहने

पर सद्भिप्रनिषेवित स्थान, सिद्धिप्रद होते हैं यह श्री आचार्यपाद के सूक्तिपद्य का आशय है जो कि शास्त्रीय तथा लोकदृष्ट प्रमाणों से प्रमाणित हैं। यही कारण है कि शास्त्रों में सिद्धक्षेत्रों का पर्यटन निर्दिष्ट किया गया है, तथा म्लेच्छ देशगमन, समुद्रपारगमन कीकटादि देशप्रवेश वर्जित किया गया है। समुद्र पारावस्थित म्लेच्छदेश निवास, म्लेच्छ भाषाध्ययन का कुप्रभाव भारतीय मनीषा पर छाया हुआ देखा जा सकता है।

किमत्र चित्रं यदि दुष्टलोको जहाति नो कुत्सिततां स्वकीयाम्।
वराहभावं समुपाश्रितेभ्यो न रोचते किं स पुरीषपुञ्जः ॥२०॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - दुष्टलोकः स्वदुःस्वभावस्य दुरतिक्रमत्वात् दुष्टाचरणं न परिहरतीति अर्थान्तरेण समर्थयन्त्याचार्यपादाः —

दुष्टलोकः, रागद्वेषादि दोष दूषितान्तःकरणो दुर्जनः, यदि स्वकीयां स्वप्रकृत्युचितां कुत्सिततां कुत्सितमनोवृत्तिं, परगुणेष्वपि दोष दर्शन प्रवृत्तिं न जहाति न त्यजति तर्ह्यत्र किं चित्रमाश्चर्यम्। नाश्चर्यमत्र मन्तव्यमिति भावः। तत्समर्थनम् - वराहभावं ग्रामसूकरत्वं समुपाश्रितेभ्यः, स्वकुत्सित कर्मणा वराहजनिमाप्तवद्भ्यः स जुगुप्सितः पुरीषपुञ्जः विष्ठानिकरः न नैव रोचते प्रियोभवतीति किम्? प्रकृतिं यान्ति भूतानीति मत्वा नाश्चर्यकर मे तदिति भावः। अत्रोत्तरार्ध वाक्यार्थेन पूर्वार्ध वाक्यार्थस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। उपेन्द्रवज्रावृत्तम् - उपेन्द्रवज्रा जत जास्ततो गौ इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने अपने सूक्तिपद्य से यह स्पष्ट किया है कि जैसे सज्जनपुरुष अपने सत्स्वभाव को नहीं छोड़ते वैसे ही दुर्जनमानव भी अपने दुःस्वभाव (कुत्सित वृत्ति) को नहीं छोड़ते तो इस में आश्चर्य ही क्या है। क्योंकि प्रकृति दुस्त्यज्य होती है। इसी बात को अर्थान्तर के निदर्शन से समझाया है कि क्या ग्रामसूकरों को जुगुप्सित पुरीषपुञ्ज नहीं सुहाता है? यदि सुहाता है तो उनके तादृश स्वभावानुसार इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है। इसी प्रकार यदि दुष्टजन अपनी परोपतापिनी कुत्सित मनोवृत्ति को नहीं छोड़ते तो कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है। सज्जन पुरुषों के द्वारा प्रथम वन्दनीय दुष्ट पुरुषों का दूर से ही परिहार कर देना श्रेयस्कर होता है —

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यया भूषितोऽपि सन्।
मणिनाभूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥

मणिवाले सर्प के समान साक्षर दुर्जन भी भयङ्कर होता है, उससे सम्पर्क न रखना ही निरापद होता है। खल पुरुष अपने दुस्त्यज स्वभाव विवश होकर गुणों में दोष दर्शन

ही करते हैं यह अन्यत्र भी कहा गया है। खलो मृगयते दोषं गुणयुक्तेषु वस्तुषु, वने पुष्प फलाकीर्णे पुरीषमिव शूकरः। यही तथ्य श्रीआचार्यपाद ने स्वसूक्तिपद्य द्वारा प्रदर्शित किया है।

विद्वन्मूर्धन्य श्री भर्तृहरि जी ने — उत्तम, मध्यम, अधम तथा अति-निकृष्ट पुरुषों की चर्चा करते हुए, उन पुरुषों को सत्पुरुष की संज्ञा दी है कि जो स्वार्थ परित्याग करके अन्य जनों का हित करते हैं। परार्थसाधन में यदि अपना कोई भी स्वार्थ त्यागना पड़े तो सहर्ष त्याग देते हैं। इन परोपकारव्रती सत्पुरुषों के अतिरिक्त दूसरी कोटि के उन पुरुषों को मानव शब्द से कहा है कि जो अपना स्वार्थ न बिगड़ने देकर परार्थसाधन में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोग अपना भी ध्यान रखते हैं तथा पराया भी। तीसरी कोटि में उन पुरुषों को राक्षस बताया है कि जो पुरुष, अपने राक्षसी स्वभाव (हिंसा, वैर, असत्य, छल-कपट, स्वैराचार) के कारण किसी भी अन्यजन की स्वार्थहानि कर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेने में ही अपनी चतुरता, सफलता तथा सार्थकता समझते हैं। इन तीनों प्रकार के पुरुषों के अतिरिक्त चौथी कोटि में उन पुरुषों को समझा गया है कि जो न अपना ही स्वार्थ सिद्ध कर पाते हैं न पराया ही; वे केवल अपने मनुष्य जीवन का प्रयोजन दूसरों का अनिष्ट सम्पादन करना ही समझते हैं। किसी का भी निष्प्रयोजन अनिष्ट करने में अपनी वस्तु तथा समय की हानि सहकर भी वे अनिष्ट कर देने में नहीं चूकते। इनके सम्बन्ध में श्री भर्तृहरि जैसे महान विचारक भी यह निर्णय नहीं ले पाये कि इन चतुर्थ कोटि के पुरुषों को किस अन्वर्थ संज्ञा से अभिहित किया जाय—**"एके सत्पुरुषाः पराघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये, अन्ये चापि परार्थ मुद्यमभृतः स्वार्था विरोधेन ये तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये, ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानामह।"** ऐसे जन्मजात दुष्ट प्रकृति के पुरुषों का सत्सङ्गादि उपाय से भी प्रकृति परिवर्तन सम्भव नहीं होता। ऐसे पुरुष जलौका के समान अपने स्थायी दुःस्वभाव से विवश होते हैं —

अवगुन को नित गहत हैं, गुन न गहत खल लोक ।
पियै रुधिर पय ना पियै, लगी पयोधर जौंक ॥

नीवीं गतः प्रस्तर्वर्य ! विज्ञा जानन्ति तेऽलं महिमान मुच्चैः ।
अश्माऽयमुच्चैःकलशेस्थितः सन् नो वेत्तिचेच्छिन्नमनेन किं स्यात्॥२१ ॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - महोपकारं कुर्वदस्तङ्गतानां जनानां सर्वातिशायि महत्वं नीविगत प्रस्तरान्योक्त्या प्रशंसन्त्याचार्यपादाः —

हे प्रस्तवर्य! त्वं नीवीं गतः, प्रासादस्याधारशिलात्वमवाप्यभूमा वन्तर्हितोऽसि। न बहिर्दृश्यसे यद्यपि, तथापि विज्ञा गुणग्राहिणो विशेषज्ञा जनास्ते

तव उच्चैर्महिमानमुत्कृष्ट महत्वं प्रासादस्थैर्ये प्रमुख भूमिकावत्वमलं सर्वात्मना जानन्ति विदन्ति, नाज्ञा अवगच्छन्ति। अयमश्मा प्रासादशिखर शेखरीभूतः पाषाणखण्ड उच्चैः कलशे प्रासादशिखर कलशे स्थितः सन् नो वेत्ति तव महिमानं चेत् तर्ह्यनेन तदज्ञानेन कृतघ्नभावभरितेन किं छिन्नं स्यात्। तव महिम्नोऽतिशये किं वैगुण्यं भवेत् न किमपीतिभावः। कृतघ्नो जनः स्वोपकारिणं कृतज्ञताप्रकाशन पुरःसरं न स्मरेच्चेत् तर्हि महापातकित्वं तस्य सुस्थिरमेव भवतीत्ययुक्तम् —

निखिलं पातकिवर्गं कृतघ्न एको हि कृत्स्नमतिशेते ।
तमपि क्रियमाणघ्नस्तमपि दुरात्मा करिष्यमाणघ्नः ।।

कृतघ्नेनास्ति निष्कृतिरिति तत्पापनिरासे प्रायश्चित्ताभावस्य धर्मशास्त्रोक्तत्वात्। कृतघ्नो जनः प्रस्तर वदचेतन एवेति भावः। अत्राचेतनप्रस्तरे चेतनवद् व्यवहृतिः कविकृता—

भावानचेतनानपि चेतन वच्चेतनानचेतनवत्। व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतयेति। अत्र प्रस्तरान्योक्तिरलङ्कारः। नीवीगतत्व निन्दायाः स्तुतौ पर्यवसानात् व्याजस्तुतिश्चापि। अत्रेन्द्रवज्रावृत्तम्। स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— स्वार्थ हो या परार्थ, ये दोनों ही अपनी असीमित स्वाभाविक परिपूर्णता में ही बन्ध-मोक्ष-प्रद होने से कल्याणकर होते हैं तथा एक देशीय सीमित अपूर्णता में दोनों ही कामादि दोषपोषक होने से अकल्याणकर होते हैं। **स्वार्थ, स्वशब्द बोध्य आत्मा का, सर्वभूतव्यवस्थित आत्मा के साथ सर्व हितकर आत्मीय व्यवहार भी पूर्ण स्वार्थ है। इसमें परत्व के लिये कोई स्थान नहीं। अतः ऐसा स्वार्थ भी परमार्थ ही है।**

परार्थ - अपने द्वारा अपने से इतर सभी प्राणियों का हितसाधन करना परार्थ होता है। यहाँ स्वत्व-परत्व भेद केवल भक्त्यर्थ ही कल्पित है — **मैं सेवक सचराचर, रूप राशि भगवन्त**। अपने से इतर सब को भगवद्रूप समझ कर उनकी यथाधिकार यथा-योग्य सेवा करना ही, असीम अपरिच्छिन्न पूर्ण परार्थ होता है। पूर्णता में सुख तथा अपूर्णता में सदा दुःख की स्थिति होती है — यो वै भूमा तत्सुखम्। उक्त दोनों भावनाओं में से किसी एक को स्वीकार कर, किया गया लोक सेवा कार्य, पूर्ण होने से परिपूर्ण परमात्म प्रसत्तिकर, तथा ऐहिकामुष्मिक सुख शान्तिप्रद होता है। **नेकी कर दरिया में डाल** का उपदेश धूमिल हो जाता है। सीमित स्वार्थ परार्थ, दोनों ही कामादि दोषों के उद्भावन से अन्तःकरण की निर्मलता का विनाश कर देते हैं। क्योंकि उनमें उपकार प्रत्युपकार की परस्पर अस्थायी आकांक्षायें बनी रहती हैं।

उपकारव्रती पुरुष की असीम निःस्वार्थ उपकारमयी मनोवृत्ति, किसी के द्वारा प्रत्युपकार की अथवा प्रशस्तिपत्र की अभीप्सा नहीं करती। उसने तो कर्मयोग द्वारा विश्वरूप भगवान की ही सेवा की है, फिर भगवान से प्रत्युपकार या कृतज्ञता प्रकाशन कैसे चाहेगा। भगवान की वस्तु भगवान को समर्पित कर देने में अपना क्या जाता है। इस भाव से भवबन्धजनक दुरहङ्कार की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। तथापि- धर्मशास्त्र की आज्ञानुसार उपकृत पुरुष को चाहिये कि वह अपने उपकार कर्ता के यथासाध्य प्रत्युपकार तथा कृतज्ञता प्रकाशन से विमुख न हो। अन्यथा किसी भी प्रायश्चित्त से नष्ट न हो सकने वाला कृतघ्नता दोष उसके लोक-द्वय गत कल्याण का निरास कर सकता है।

अपने उपकर्ता को विस्मृत कर देने वाला उपकृत जन कृतघ्नता दोष से दूषित, चेतन भी प्रस्तरवत अचेतन ही समझना चाहिये, इसी आशय से श्रीआचार्यपाद ने अपने सूक्तिपद्य के द्वारा उपर्युक्त भाव बोधक नीतिगत प्रस्तरान्योक्ति प्रस्तुत की है –

हे महोच्च प्रासाद के आधार शिला रूप नींव के पाषाण! तुम महाप्रासाद (भवन) के महान उपकारक हो। तुमने प्रासाद का पूरा बोझ अनन्त काल तक के लिये अपने सिर पर धारण कर रखा है। हे उपकारव्रती पाषाण! तुम अपने परम उपकार के कारण ही भूमि में समा जाने से भले ही दर्शकों को दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हो, तो भी तुम्हारे इस महोपकार के महत्त्व को समझने वाले गुणग्राही विशेषज्ञ जन अवश्य यह जानते हैं कि इस गगनचुम्बी प्रासाद के धारण करने, तथा अविचल स्थिरीकरण में तुम्हारी सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। पाषाण हृदय अज्ञजन यदि नहीं समझते तो न समझें, इससे तुम्हारे महान योगदान का महत्त्व घट नहीं सकता। प्रासाद के सर्वोच्च शिखरकलश पर गर्व के साथ मुकुटवत् विराजमान यह हृदयहीन लघु पाषाण खण्ड भी यदि तुम्हारी गौरवपूर्ण महिमा को नहीं समझता कि तुम्हारे ही आत्मोत्सर्ग के कारण उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है, तो भी इसकी कृतघ्नतापूर्ण नासमझी से तुम्हारे महत्त्व में कोई वैगुण्य नहीं आ सकता। यदि दर्शकों की भी दृष्टि , केवल प्रासाद की मनोरम कारीगरी के देखने तक ही सीमित रहेगी तो भी हे भूगर्भशय्याप्रसुप्त, नींव के प्रस्तरवर्य! शिवि, दधीचि के समान तुम्हारा उज्ज्वल यश सदा स्थिर रहेगा। तुम धन्यवाद के पात्र हो।

प्रस्तरान्योक्ति से ध्वनित अर्थ - हे स्वतन्त्र भारत राष्ट्र के आधार शिलारूप वीर बलिदानी भारतीय मानवों! यद्यपि **अमर जवान ज्योति** सम्मान के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के राजनेताजन, नाटकीय ढंग से ही सही, वर्ष में एक बार तुम्हें स्मरण तो करते ही हैं, किन्तु उनकी भ्रष्टतन्त्रीय कार्यपद्धति से तुम्हारा अन्तर्मानस अवश्य ही व्यथित होगा कि क्या ऐसे ही भ्रष्टतन्त्र की स्थापना के लिये तुमने आत्मोत्सर्ग किया था। कुछ भी हो, जनता जनार्दन के मन में तो तुम्हारे प्रति सदा अविचल आदर श्रद्धाभाव बना ही रहेगा।

राष्ट्रमुन्नतिमिमे नराः परां नेतुमिन्द्रियसुखानि भुञ्जते।
ख्यापयन्ति च परोपकारितामेतदस्ति कलिकाल चेष्टितम्॥२२॥

व्याख्या— अत्रसूक्तिपद्ये - कलिकल्मष मानसानां, वर्त्तमान धर्मानपेक्षलोकतन्त्रीय राजनैकानां, तत्सहयोगिनाञ्च कदाचरणानि समीक्ष्य दूयमानेन चेतसा दुःखं प्रकटयन्त्याचार्यपादाः -

इमे वर्तमान लोकतन्त्रीय समाजोन्नयन दिग्दर्शकाः - कलिराज सचिवाधर्मा सत्यान्यायादीनां प्रतीका भ्रष्टाचार परायणा अपि तथाकथित देशभक्ता राजनेतारो नराः न रान्ति, न ददाति राष्ट्राय सुखसौविध्य सम्भारजातं किमपि, केवलं ढपोरशंखवत् विकास योजना घोषणादि शब्दैरुच्चस्वरेणभिहितैः प्रतारयन्ति जनानिति शब्दशक्तिदत्तार्थ विकल्पेन नराः। राष्ट्रं भारत राष्ट्रं परामधिकाधिकामुन्नतिं नेतुं प्रापयितुमर्थकामोपलब्ध्या समुन्नतं विधातुमितिबुद्ध्या स्वयमात्मानमेव सपरिवारं भारतराष्ट्रमूर्तिं मत्वा भ्रष्टाचारार्जित द्रव्यैरिन्द्रिय सुखानि, रूप रस गन्ध स्पर्श शब्दानन्द विसर्ग विषयोद्भवानि, भुञ्जते। नाम्ना देश सेवका भूत्वा स्वेन्द्रियसेवका भवन्तीति भावः। न ते मनागपि राष्ट्रोन्नयन चिन्तां विदधते। तथा च - परोपकारितां स्वस्य परोपकारिजीवनं ख्यापयन्ति - स्वागताभिनन्दन सभासु स्वार्थलोलुप भ्रष्ट चाटुकारैरित्याशयः। यथा – इमे देशभक्ताः, देशसेवार्थं सर्वस्व त्यागिनः, परमोदाराः, निर्धन-कृषक श्रमिक जन वर्ग भाग्यविधातारः, अहर्निशं राष्ट्रोन्नत्यै सततं प्रयतमानाः सन्तीत्यादि मिथ्याप्रयुक्त शब्द जालैस्ते राजनेतारोऽपि तथात्वमात्मन्यारोप्य दिग्भ्रान्ता भवन्ति। तदा ते विरिञ्चिसमेनापि गुरुणा अप्रतिबोध्या भवन्ति देवानां प्रियाः। अत्र केनापि हिन्दीकविना संकोचं परिहृत्य सुस्पष्टमभिहितम् - "जो कोई किसी मूर्ख नेता का करता है अभिनन्दन, झूठी करै प्रशंसा, वह भी निरा रासभीनन्दन" इति।

अत्र सूक्तिपद्ये - तदर्थमुचितोपायानवगमात् आचार्यपादा नैराश्यमुरीकृत्य ब्रुवते - एतत सर्वं कलिकाल चेष्टितमेवास्ति, किं क्रियतामिति कलियुगीयेतिहासेऽपि – "सर्वे म्लेच्छा भविष्यन्ति स्वेच्छाचार परायणाः, तस्कराश्चैव नेतारः प्रजाश्च करपीड़िता इति।" कलिनाधर्ममित्रेण धरेयं बाधिताधुना। "अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्। अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितिः इति।" तर्हि अस्माभिरपि तथैव सोढव्यमित्यलम्। अत्र कलिदोषदूषितान्तःकरण- धर्मानपेक्ष

भ्रष्टाचारिदुर्जन स्वभावोक्तिरलङ्कारः। यद्वा नेतृणां तादृशस्वभाव करणे कलिकाल चेष्टाया हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। रथोद्धता च वृत्तम - रान्नराविह रथोद्धता लगौ, इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— एतत्सूक्ति पद्यार्थ विचार से प्रतीत होता है — श्री आचार्यपाद ने उन परोपदेशक तथा स्वयं सन्मार्ग से भ्रष्ट वर्तमान प्रशासनतन्त्रीय राजनेता, तथा उनके सहयोगी समुदाय को अपने सूक्तिवाक्य का लक्ष्य बनाया है जो तथाकथित देशभक्त नेताजन संयम खोकर भोगविलास परवश हैं। राष्ट्रोन्नयन के लोकप्रतारक गीत गाकर स्वमनः कल्पित सच्चे देशभक्त की उपाधि से अपने आप को ख्यापित करते हैं। अपने दम्भाचरण से सर्वज्ञ जनता जनार्दन को प्रतारित करके लोक निन्दनीय दुःस्वार्थ साधन में संलग्न रहते हैं।

श्री आचार्यपाद ने अपने सूक्तिपद्य में उन्हें नर शब्द से अभिहित किया है। यह साभिप्राय कथन प्रतीत होता है। **न रान्ति न ददाति, राष्ट्राय सुखसौविध्यं किमपि, केवलं ढपोरशङ्खवत विकासयोजना घोषणादि शब्दैः प्रतारयन्ति जनानिति नराः** जो राजनेता, समष्टि हित साधक न होकर केवल व्यक्तिगत स्वार्थ साधक होते हैं, वे यहाँ नर शब्द के वाच्यान्तर वाच्य इसलिये उचित हैं कि वे जनता के सुख सौविध्य का उचित ध्यान नहीं रखते, प्रत्युत ढपोरशङ्ख के समान विकास योजना घोषणादि शब्द मात्र से मिथ्या सान्त्वना देकर धोखाधड़ी करते हैं। यह खेदपूर्ण आश्चर्य का विषय है कि ऐसे नर जन प्रतिनिधित्व स्वीकार करके भी राष्ट्रहित की अनदेखी करके स्वयं अपने आप तथा स्ववंशजों को ही राष्ट्रचैतन्य मूर्ति समझ कर राष्ट्र के सार्वजनिक द्रव्य का अपहरण करके, इन्द्रियलोलुप, भेगविलासी, कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, रागी, द्वेषी होकर राष्ट्र की उन्नति के स्थान पर अवनति ही करते हैं। यत्र तत्र स्वागताभिनन्दन सभाओं में भाड़े के प्रशंसकों द्वारा अपने मिथ्या परोपकारी जीवन का ख्यापन कराते हैं। भाड़े के चाटुकार भी — **श्री नेताजी सच्चे देशभक्त हैं। सर्वस्वदानी परोपकार-व्रती हैं। परमोदार प्रकृति हैं। देश के सर्वाङ्गीण विकास के लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं। कृषक-निर्धन-श्रमिक वर्ग के आप साक्षात् भाग्यविधाता हैं।** एवं विध मिथ्याप्रयुक्त प्रशंसावाक्यों से उन्हें दिग्भ्रान्त कर देते हैं। तब फिर वे नेता महोदय विरिञ्चिसम गुरु के द्वारा भी प्रतिबोध्य नहीं रहते। ऐसे नेताओं के सामूहिक सुधार का कोई उपाय अपरिज्ञात या दुःशक होने से श्री आचार्यपाद दुःख के साथ कहते हैं — **यह सब कराल कलिकाल की ही चेष्टा है। यह अनिवार्य युगधर्म ही है, किसी का दोष नहीं है। इसे पुण्डरीकाक्ष भगवान भी सहन करते हैं। अतः आस्तिक धार्मिक जन को भी सहन ही करना चाहिये। इसके लिये किया भी क्या जा सकता है।**

श्रीआचार्यपाद ने इस सूक्तिपद्य के द्वारा उन परोपदेशक धर्माचार्यों को भी लक्षित किया है कि जो मन, वाणी तथा आचरण में समानता न लाकर व्यवसाय बुद्धि में **परोपदेशे पाण्डित्यं** का ही सहारा लिये हुए हैं। किन्हीं संस्कृत कवि महोदय ने वर्तमान काल का चित्रण

किया है — **वृद्धिं यात्यधुना परीक्षण विधिः सा योग्यता लीयते सर्वत्र प्रचरन्ति धर्मकथका धर्मो ध्रुवं धूयते। ये वाञ्छन्ति परां महोन्नति महो नित्य पतन्त्येव ते देशोद्धारमथो रटन्ति तु परं देशो विदेशायते।।** वर्तमान काल में प्रमाणपत्रीय परीक्षाओं की बाढ़ आ रही हैं, किन्तु योग्यता का ह्रास हो रहा है, सर्वत्र धर्मोपदेश सभायें हो रही हैं, किन्तु धर्म पलायन करता जा रहा है। राष्ट्र के उन्नायक जन स्वयं अवनति के गर्त में पतित हो रहे हैं। देशभक्त, देश के उद्धार की तो रट लगाते हैं किन्तु देश विदेश बनता जा रहा है। अधर्म ने धर्म का, असत्य ने सत्य का, हिंसा ने अहिंसा का, अन्याय ने न्याय का, कदाचार ने सदाचार का, अशान्ति ने शान्ति का, दौर्मनस्य ने सौमनस्य का, सङ्कीर्णता ने असङ्कीर्णता का, असदुणों ने सदुणों का तथा दुर्मानवों ने सत्पुरुषों का स्थान अपहृत कर लिया है। यह कलियुग का ऐतिहासिक पुनरावर्तन ही है। किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। श्री आचार्यपाद ने सूक्तिगत "**एतदस्ति कलिकाल चेष्टितम्**" वाक्य से यही विचार प्रस्तुत किया है। अनादिवेदबोधित भारतीय संविधान में धर्मशास्त्रानुकूल स्वायत्तता ही स्वतन्त्रता पद से अभिहित हुई है; कुसङ्ग, कुशिक्षा प्राप्त **स्वैराचार प्रवृत्ति का नाम स्वतन्त्रता नहीं** बताया गया। स्वतन्त्रतान्दोलन के शीर्ष नेताओं ने विदेशवास, अनार्यभाषाग्रहण तथा अनार्यस्वैरजनसंसर्ग से प्राप्त स्वैराचार रूप सङ्क्रामक रोग के वशीभूत होकर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का स्वरूप आयात किया जिसका दुष्परिणाम प्रत्यक्ष दृष्ट है।

प्रावृट्काले प्रोषितकान्ता तरुणीयं
हस्तन्यस्ताऽऽरक्तकपोला च्युतधैर्या।
दत्ते शापं वेधस आमीलितनेत्रा
दर्शं दर्शं मत्तमयूरं मदनार्ता ॥२३॥

व्याख्या— अत्र पद्ये प्रोषितभर्तृकाश्रयं प्रावृट्कालिकं विप्रलम्भ शृङ्गार वर्णनं प्रस्तुवन्त्याचार्यपादाः। प्रोषितकान्ता, प्रोषितः प्रवासं गतः कान्तःपतिर्यस्याः सा। हस्ते करतले न्यस्तो धारित आरक्तश्चिरमतव्यवधानेन हस्ते धृतत्वात्। कपोलो गन्डस्थलं यया सा पतिध्यानावस्थमुद्रयास्थितेत्यर्थः। च्युतं विगलितं धैर्यमाशाबन्धो यस्याः सा दूरस्थपत्युस्तदानीमनागमनकारणात्। मदनेन, मदयतीति मदनः कामस्तेनार्ता व्याकुला, उद्दीपित मदनेत्यर्थः। प्रावृट्काले जलदागम समये, मत्तो मदयुक्तो मयूरो बर्हीं तम् मदेन केकानिनादपूर्वकं नृत्यन्तमित्यार्थः। वर्षाकाले मयूरा मदयुक्ता भवन्ति। तं तादृश गवस्थं मयूरं दर्शं दर्शमित्याभीक्ष्ण्येणमुल, दृष्ट्वा दृष्ट्वा आमीलिते मुद्रिते नेत्रे नयने यया सा कामोद्दीपकनृत्यन्मयूर

दर्शनाक्षमत्वादिति भावः। इयमेषा काचित् तरुणी आरूढयौवना, वेधसे विधात्रे असमीक्ष्य विधान कर्त्रे-इत्याशयः। शापं दत्ते ददाति, "अहमिव तवापि गृहिणी त्वद्वियोगमाप्तुयादिति।" एवं विधेऽपि काले वेधा मम पत्युः संयोगमवरुणद्धि अतः स शाप योग्य इति मत्वा तं शपति इत्याशयः। अत्र व्याज्यमानोऽपि विप्रलम्भ श्रृङ्गार रसो भावोदयानुगुणत्वमेव भजते। तथाहि- प्रोषित पतिरालम्बनम्। प्रोषितपतिका युवती तदाश्रयः। हस्तन्यस्त कपो त्वामीलित नेत्रत्वादयोऽनुभावाः। प्रावृट्काल-मत्त मयूर दर्शनादीन्युद्दीपनानि। च्यु धैर्यत्व मदनार्तत्वादिना अधीरता विषाद चिन्तादयो व्यभिचारिणः। रतिश्च स्थायिभावः। तैः संयोगात् विप्रलम्भ रसध्वनिः। ततश्च वेधसं प्रत्यसूयोदयात् उदीयमानो भावश्चमत्कारोतीत्यत्र व्यज्यमानायामसूयायां रसस्यानुगुणत्वाद्रसालङ्कार एव। छेकानुप्रासश्च शब्दालङ्कारः। वृत्तमत्र मत्तमयूरमिति सूक्तिपद्य एव निर्दिष्टम्। तल्लक्षणञ्च— "वेदैरन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्, इति।"

भावार्थ— श्रीआचार्यपाद ने इस सूक्तिपद्य के द्वारा प्रावृट्कालिकप्रोषित भर्तृकानिष्ठ प्रवासहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यक्ति तथा रसाभिव्यङ्ग्य भावोदय ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत किया है — वर्षा ऋतु के आगमन काल में किसी प्रवासी पति की वियोगिनी वनिता, पति के ध्यान में चिन्ता निमग्न है। चिन्ता मुद्रा में चिर काल तक हाथ पर टिका हुआ उसका मृदुल कपोल प्रान्त आरक्त हो गया है। उस समय शरीर-मानस शीतलता प्रदान करने वाले वर्षा ऋतु के मेघ अपने गर्जन के द्वारा वियोगाधिग्रस्त सरसहृदयों को धिक्कारते हुए गगन मण्डल पर छा गये हैं तथा अपने मित्र जलदों का स्वागताभिनन्दन अपने केकानिनाद से करते हुए प्रेयसी मयूरी के निकट ही मदमाते मयूर, अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन, सुरम्य पिच्छों का छत्र लगाकर कर रहे हैं। यह सब देखकर उद्दीपित मदना विरहिणी अधीर हो उठी है। उस समय दूरस्थ प्रवासी पति का प्रवास से लौटना सम्भव नहीं है, इस कारण उसका आशाबन्ध टूट चुका है। उद्दीपक सामग्री के दर्शन से असह्य पतिवियोग पीड़ा का अनुभव करके विरहिणी ने अपने नेत्र बन्द कर लिये हैं और असमीक्ष्यकारी भाग्यविधाता को शाप दे रही है, भगवान करे तुम्हारी स्त्री और तुम दोनों ही मेरे समान परस्पर वियोग की वह्नि में झुलसते रहो —

कुसमय मोहि दारुण दुःख दीन्हा।
पावहुगे फल आपुनि कीन्हा॥

सुखद संयोग के अवसर पर तुमने मुझ पर विरह वज्रपात किया है, अतः तुम शाप के ही योग्य हो। इस सूक्ति पद्य में प्रवासहेतुक विप्रलम्भ श्रृङ्गार रसध्वनि से अभिव्यक्त,

विधि के प्रति असूया सञ्चारि भावाभिव्यक्ति चमत्कृत होने से भावोदय ध्वनि है, यहाँ प्रवासी पति आलम्बन विभाव, वर्षाकाल, मत्तमयूर, मेघदर्शनादि उद्दीपन विभाव, प्रोषित पतिका वनिता रत्याश्रय, हस्तन्यस्तकपोलत्वामीलितनेत्रत्वादि अनुभाव, च्युतधैर्यत्व मदनार्तत्वादि से व्यक्त अधीरता चिन्ता विषादादि सञ्चारी भाव तथा रतिस्थायी भाव है। गुणीभूत रस से ध्वनित असूयाभावोदय व्यंग्य का प्राधान्य है। संयोग श्रृङ्गार की अपनी सीमा होती है, वह मर्यादित एकदेशावस्थिति को त्याग नहीं सकता। किन्तु वियोग श्रृङ्गार का प्रवाह असीम होता है, वहाँ चेतन अचेतन का भेद तिरोहित हो जाता है। विना वियोग के तन्मयता सम्भव नहीं होती। वियोगाधिग्रस्त प्रेमी को संयोग में भावी विरह की आऽऽङ्का सताती है तथा विरह में संयोग (मिलन) की तीव्र उत्कण्ठा बेचैन कर देती है। **त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।**

धीराणां गिरिकुहरेषु योगभाजां तृप्तानां निज हृदयेषु सर्वदैव।
कस्मिंश्चित् सुकृतिनिमानवेशरीरे दृग्धन्या पतति मनःप्रहर्षिणी सा॥२४॥

व्याख्या— कश्चिदेव पुण्यात्मा पुरुषः सिद्धयोगिनां दृक्पथमायातः कृतार्थो भवति नान्यः। तेषां योगिनां सा दृष्टिरपि धन्या या सुकृतिनि मनुजशरीरे पतति न दुष्कृतकारिणि। इत्याचार्य प्रवराः स्वसूक्ति पद्येनाभिदधति —

गिरीणां भूधराणां कुहराणि गुहागृहाणि तेषु निर्जनैकान्त शान्त स्थलेषु योगभाजां, योगः - यमनियमाद्यष्टाङ्गः युज्यते इति योगः - युजिर् योगे, इति धात्वर्थबलात् - आत्मनः परमात्मनश्च नित्यः सम्बन्धो योगः। समत्वञ्च योगः समत्वं योग उच्यते, निर्दोषं हि समं ब्रह्मेति - ब्रह्माकाराकारित वृत्तित्वं समत्वम्। तथा च - युजसमाधौ, इति धातु निष्पन्नो योगशब्दः। तेन चेतसः समाधौस्थितर्योगः। चित्तस्थैर्यमितिभावः। यद्वा युज संयमने धातोर्निष्पन्नो योगशब्दः तस्मात् संयमनं यमनियमादि सामर्थ्यम्। इन्द्रियमनोनिग्रहरूपम्, तत्कारणक प्रभावोऽपि दूरदर्शन श्रवणादिरूपो योगः। तं तादृशं योगं भजन्ते सेवन्ते, इति योगभाजस्तेषां, धीराणां जिव्होपस्थ जयाख्य धृतिमतां, तथा च सर्वदैव सर्वकालं निजहृदयेषु आत्मावासो हृदयं — "हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठतीति हृद्गुहाभ्यन्तराले आत्मन्येवात्मानं प्रत्यक्षीकृत्य तृप्तानां निर्वृत्तानां", नित्यतृप्ताना मिति भावः। मनः प्रहर्षिणी दृक्, पश्यतां मनः प्रसादजननी दृष्टिः। कस्मिंश्चिदनिर्ज्ञात नाम रूपे सुकृतिनि पुण्यवति मानवे शरीरे पुण्यशील मानव देहे पतति विश्राम्यति। न तु संसारि जनानां पापात्मनामशुचि देहे। ततः सा दृगधन्य सुश्लाघ्या, सुकृतिजन देहे पातित्वात्। स मानवोऽपि धन्यो यच्छरीरं

सिद्धियोगिजन दृष्टि विषयतामापद्यते। अन्यथा "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवतीति ब्रह्मस्वरूपास्ते योगिनोऽविपक्व कषायाणां कुयोगिना मनधिकारिणां जनानां प्राकृत पुरुषाणां दुर्दशा एव भवन्ति।" अत्र मानव शरीरे योगिदृक्पात व्यापारे तस्य सुकृतित्वमेव हेतुरिति पदार्थ हेतुकं काव्य लिङ्गमलङ्कारो विभावनीयः। यद्वा प्राकृत पुरुषापेक्षया योगिदृक्पात विषयीभूतस्य जनस्याधिक्य वर्णनाद्व्यतिरेकः। अत्र प्रहर्षिणी वृत्तमिति सूक्तिपद्ये नाम्ना सङ्केतितम्। तल्लक्षणम्। म्नौ ज्रौगस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् इति।

भावार्थ— इस संसार मार्ग में कोई विरल पुण्यवान् भाग्यशाली पुरुष ही सिद्ध योगीश्वर महापुरुषों की कृपा-पीयूष-वर्षिणी दृष्टि का लाभ प्राप्त कर सकता है। योगपारङ्गत निष्कल्मष सिद्धों के दृष्टिपात मात्र से ही साधारण से साधारण जीव का कल्याण हो जाता है। महात्मा योगीश्वर श्री दत्तात्रेय के दर्शनमात्र से ही पिङ्गला वाराङ्गना का बुद्धि परिवर्तन हो गया था। अतः वे सुकृति जन अतिधन्य होते हैं, जिन पर भाग्यवश कभी सिद्ध महात्माओं का कृपा दृष्टिपात हो जाता है। वह कृपादृष्टि भी सुश्लाध्य ही है कि जो अपने कृपापात्र को अविलम्ब कल्याणभाजन बना देती है। श्री आचार्यपाद ने अपने सूक्तिपद्य के द्वारा ऐसा ही विचार प्रस्तुत किया है —

योग साधना के बिना कोई भी लौकिक या अलौकिक सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। पद्यार्थ - एकान्त निर्जन भूधर कन्दराओं में स्थित होकर जिन तपस्वी महात्माओं ने योग शास्त्रानुसार सिद्ध गुरु से दीक्षित होकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप अष्टाङ्ग योग का साङ्गोपाङ्ग सतत अभ्यास किया है तथा रागमुक्त, नित्य निवृत्त, जिव्होपस्थ जयरूप धृतिमान, संयतात्मा धीर पुरुष हैं, उन योगसिद्ध महापुरुषों की करुणामयी जनमनः प्रसादिनी दृष्टि किसी पुण्यात्मा मानव के शरीर पर ही पड़ती है। सिद्धयोगीश्वरों की वह दृष्टि धन्य (श्लाघनीय) है कि जो किसी निष्पाप सदाचारी पुरुष को, उसके पूर्वाचरित शुभकर्मों के फल के रूप में अपना लक्ष्य बनाती है। दृष्टिदीक्षा के प्रभाव से कृपापात्र साधकजन, कुण्डलिनी जागरण पूर्वक - १. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपुर, ४. अनाहत, ५. विशुद्ध और ६. आज्ञा इन सुषुम्ना स्थित षट्चक्रों का भेदन करके सहस्रार में स्थित चक्रातीत निरञ्जन निर्गुण शिव का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाते हैं। अतः योग निष्णात सिद्ध योगीश्वरों की वह दृष्टि धन्य है कि जो अधिकारी कृपाप्राप्त साधकजन को योगसिद्ध बना देती है। **सिद्ध योगीश्वरों की दृष्टि निर्गत विद्युज्ज्योति के संस्पर्शमात्र से साधारण मानव का कायापलट हो जाता है और वह धन्य जीवन बन जाता है।**

जाने चिरायुरसिधातरहं मनुष्यस्त्वं
लोमशं मुनिवरं प्रतिपृच्छ विद्वन्।
निर्णेष्यते सुललितां चिरजीवितां ते
प्राज्ञो मुनिः स निज रोम विनाशकाले ॥२५॥

व्याख्या— अत्रपद्ये - सर्वाधिक चिरजीवित्वं स्वस्य मन्यमानं धातारं व्यंग्य विनोद वार्तयोपह सन्त्याचार्यपादाः —

हे धातः, ब्रह्मन् अहं तावन्मनुष्यः स्वल्पकाल जीवी अस्मि परन्तु त्वं चिरायुरसि सर्वाधिक चिरजीवी वर्तसे, इत्यहं जाने वेद्मि। न त्वं चिरायुसि मुधैव चिरायुष्वदं स्वस्याभिमन्यसे - इति काक्वा व्यज्यते। हे विद्वन् विदांवर! स्वायुषो विषये मुनिवरं त्वत्तोऽप्यधिककाल जीविनं लोमशं लोमश नामानं प्रति पृच्छ। स एव प्राज्ञो मुनिः प्रकृष्ट ज्ञानवान निज लोम विनाशकाले स्वशरीरगतैकरोम निपात समये ते तव ब्रह्मणः सुललितां सुश्लाघ्यां चिरजीवितां परार्धद्वयावधिक जीवित्वं न ततोऽधिकमिति निर्णेष्यति प्रमाणीकरिष्यति। तवायुषोऽन्तं लोमश एव निर्णेष्यति नान्य इत्यर्थः। रोमावृत सकल शरीरस्य लोमश मुनेरेक लोम निपातावसरे एको ब्रह्मा म्रियते, इति पुराण कथात्रानुसन्धेया। स्वदिव्यमानेन शतायुर्ब्रह्मापि स्वायुषः क्षये नामशेषो भवति, नामरूपात्मक जगत्प्रपञ्चस्य नश्वरत्वात्। मानवीय वर्ष मानेन ब्रह्मण आयु ब्रह्म वैवर्तपुराणानुसारं ३१ नील २० खरब ४० अरब वर्षाणि यावत् निर्णीतमस्ति। अत्र - "आब्रह्म भुवनाल्लोकात्पुनरावर्तिनोऽर्जुनेति" गीतोक्त वाक्येऽभिविधा वाङ्मत्वा ब्रह्मणो लयो बोद्धव्यः। मर्यादामाङ्मत्वा तदधो लोक वर्तिनो जीवा भोग वासनावन्तो भोगबद्धास्तत्तल्लोक गत भोगक्षये जाते पुनरावर्तन्ते। ब्रह्मलोकमवाप्तास्तु ब्रह्मणा सहैव मुच्यन्ते, न ते पुनरावर्तन्ते, इयानेव विशेषः। अयं क्रम मुक्तिमार्गोऽभिहितः। अत्र ब्रह्मणो निन्दामुखेन स्तुति रेवाऽभिहिता, यतस्त्वयैव लोमश मुनये तादृशजीवित्वाय वरोदत्तोऽन्यथा स मुनि र्लोमशः स्वशक्त्या बहुकाल जीवित्वमाप्तुं न क्षमो भवेदिति व्याजस्तुतिरलङ्कारः। व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा, इति तल्लक्षणात्। वसंततिलका चात्र वृत्तम्।

भावार्थ— जिनके एक दिन में चतुर्दश मन्वन्तर युग समाप्त हो जाते हैं तथा जो अपने आयुःप्रमाण से सौ वर्ष जीवित रहने के कारण स्वयं को सर्वाधिक चिरजीवी मानते

हैं, ऐसे ब्रह्माजी को सम्बोधित करके श्री आचार्यपाद ने इस सूक्तिपद्य के द्वारा व्यंग्य विनोदोपहास प्रस्तुत करते हुए जगत की नश्वरता का दिग्दर्शन कराया है— हे विश्वविधाता ब्रह्माजी ! मैं मृत्युलोक का प्राणी अपने आयुष्य के विषय में पूर्ण आश्वस्त नहीं हूँ, क्योंकि मनुष्य की आयु सामान्य नियमानुसार विंशोत्तरीदशाकाल गणना से अधिक से अधिक एक सौ बीस वर्ष ५ दिन की मानी गई है। अष्टोत्तरीदशा से तो और भी थोड़ी। इस पर भी अल्पायु, मध्यायु, दीर्घायु योगचक्र घटित होता रहता है। फिर भी दैवदुर्विपाक से अकालमृत्यु की आशङ्का प्रतिक्षण बनी रहती है। अतः मेरी बात तो छोड़िये। आप तो परार्धद्वयावधिक निश्चित मृत्युकाल की सीमा में रहकर भी अपने आप को सर्वाधिक चिरजीवी मान रहे हैं, यह कैसी विडम्बना है। हे विदांवर ! आपका जीवन प्रमाण पत्र लोमश मुनि के पास है। वे जानते हैं कि आप कितने चिरजीवी हैं। लोमश जी से पूछकर अपने चिरायुष्ट्व का निर्णय लीजिये।

पौराणिक कथा से ज्ञात होता है कि लोमश मुनि का सर्वाङ्ग शरीर असंख्य बालों से ढका हुआ है। जब एक ब्रह्मा का विलय होता है तो लोमश मुनि का एक बाल गिरं जाता है।•नामरूपात्मक जगत्प्रपञ्च के नश्वर होने से दिव्यमान से अपने सौ वर्षों के उपरान्त ब्रह्माजी भी नामशेष हो जाते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में ब्रह्माजी का आयुकाल ३१ नील २० खरब ४० अरब मानवीय वर्षों का उल्लिखित है। वर्तमान ब्रह्माजी अब अपने ५० वर्ष व्यतीत करके इक्यावनवें वर्ष में प्रविष्ट हुए हैं। अपना शतायुष्काल बीतने पर ब्रह्माजी, ब्रह्मलोकवासी पुण्यात्माओं के साथ स्वरूपलीन (मुक्त) हो जायेंगे। ब्रह्म लोक से अधोलोकवासी प्राणियों का पुनरावर्तन निश्चित कहा गया है। श्री आचार्यपाद ने निन्दाव्याज से ब्रह्माजी के अनुपम सामर्थ्य की ही संस्तुति की है क्योंकि लोमश मुनि को उनकी इच्छानुसार बहुकाल जीवन का वरदान ब्रह्माजी ने ही दिया था अन्यथा लोमश मुनि अपनी उतनी अधिक आयु कैसे प्राप्त कर लेते। लोमश मुनि के शरीरस्थ् सब बालों के गिर जाने पर वे भी कालकवलित हो जायेंगे। वे भी अजरअमर नहीं हैं। मृत्युलोक के संविधान के अनुसार सभी नामरूप धारी जीव समुदाय, मृत्यु देवता के वशीभूत है। जिस प्राणी का मृत्युकाल जितना निर्धारित होता है, वह मृत्यु से उतना ही भयभीत होता है। लोमश मुन की मृत्यु, सकल रोम निपात के पश्चात निश्चित है, अतः वे अपना बायां घोंटू रोमरहित हो जाने पर अधिक चिन्तित रहते हैं। अपने विनाश का भय उन्हें व्याकुल किये रहता है। यह बात लोमश मुनि ने स्वयं पुराणकथा में अपने मुख से देवराज इन्द्र के समक्ष कही है। जिन्हें अपना, संविधान से निश्चित भी मृत्युकाल अज्ञात रहता है, वे प्राणी जीवन की नश्वरता को भुलाकर आश्वस्त बने रहते हैं। ऐसे मानव अपने क्षण-क्षण घटती आयु से ध्यान हटा कर दीर्घ जीवन का स्वप्न देखते रहते हैं। इस सूक्तिपद्य का निष्कर्ष - **गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत** मृत्यु ने केश पकड़ रखे हैं, न जाने कब अपना ग्रास बना ले, यह सोचकर मानव को धर्माचरण परायण हो जाना चाहिये। अपने क्षणभङ्गुर जीवन से अविनाशी पद की प्राप्ति करने में प्रमाद न करें। प्रभु

कृपा से प्राप्त होने वाला मानव शरीर बार-बार नहीं मिलता। इसका प्रयोजन सांसारिक भोग-विलासादि नहीं है। **एहि तन कर फल विषय न भई, स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई।** प्रभास खण्ड के अनुसार लोमश ऋषि के शरीर पर साढ़े तीन करोड़ बाल हैं। एक इन्द्र की आयु समाप्ति पर उनका एक बाल गिरता है। यों सभी बाल गिरने पर लोमश जी भी काल कवलित हो जायेंगे। **यावन्ति देहरोमाणि इन्द्रास्तावन्त एव हि। यदा नाशं गमिष्यन्ति तदा तस्य क्षयो ध्रुवम्॥**

तथा – लोमश मुनि की पूर्ण आयु में ६ ब्रह्माओं का अवसान हो जाता है। **ब्रह्माणः षड विनश्यन्ति समग्रायुषि लोमशे।**

धन्याः स्वमेव सकलेषु चराचरेषु
व्याप्तं प्रकामनुभूय सुधाकलाद्यम्।
कल्याणधाम्नि रसयन्ति हि सावधानाः
शैवाऽवनौ शिवपदध्वनि मध्वनीना॥२६॥

व्याख्या—अत्रैतत्सूक्तिपद्येनेदमवगन्तव्यं भवति - "विदितेऽपि पदे तत्वे जाते बोधे मनीषया भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरमितिमत्वा विदितानुभूताद्वैततत्वा ज्ञानिनोऽपि उपास्योपासकभावमात्मनि प्रकल्प्य विश्वात्मानं परमेश्वरं श्री साम्बसदाशिवं प्रीत्या भजन्ते। तेषां भाव जगति परमेश्वरो निराकारोऽपि साकारो भवति।"

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्य हैतुकीं भक्तिमित्थं भूतगुणो हरिः॥

हरेरित्थम्भूतगुण एव भक्तिरसज्ञान् भक्तान् भक्त्यै समाकर्षति, नान्यः कश्चिदपरो हेतुः। तदा भक्त पराधीनो भगवानपि भक्तवाञ्छाकल्पतरुर्भक्तेच्छया निर्गुणोऽपि सगुणः, निराकारोऽपि साकारः, अनामरूपोऽपि नामरूपधारी भूत्वा प्रेमरज्जुकृत बन्धनवशगः सन् भक्तानानन्दयति। अत आत्मैकत्व बोधवन्तोऽभेददर्शिनोऽपि पुरुषा विशुद्ध प्रेम भक्त्या ये शिवं भजन्ते ते धन्यतमाः सन्ति, स्वस्य तादृश रसार्णवावगाहभाग्यात्। इत्येवमर्थमभिप्रेत्य स्वसूक्तिपद्यमिदं प्रस्तुवन्त्याचार्यपादाः –

अत्रार्थवत्वात् यत्तत्पदयोराहारः। ये सकलेषु चराचरेषु, स्थावरजङ्गमेषु, सुधाकलाद्यं अमृतकलया चिद्रूपया आद्यं पूर्णं स्वमेव, आत्मानमेव "आत्मैवेदं

सर्वमिति बुद्ध्या व्याप्तमोतप्रोतं प्रकामं निरन्तरमनुभूय साक्षादनुभव विषयीकृत्य सावधानाः समाहित मनसोऽध्वनीनाः सर्वत्राध्वसु विचरन्तो यद्वा शैवतीर्थयात्रिणोऽमरनाथकाशी कैलाशादितीर्थयायिनः, कल्याणधाम्नि श्रेयोधिष्ठानभूतायां शैवावनौ काश्यादौ। यद्वा– शिवो देवता येषां ते शैवाः शिवाद्वैतमतावलम्बिनो न्यासिनस्तेषामवनिर्भूभागः शैवसम्प्रदायाश्रमास्तेषु। यद्वा– अन्तर्जगति अध्वा सुषुम्नामार्गस्तत्र जाग्रत कुण्डलिनीकाः क्रमशः षड मूलाधारादि चक्रमार्ग यायिनोऽध्वनीनाः सावधाना जितहृषीका मूर्धस्थ सहस्रारचक्रे शिवावनौ परशिवशक्ति स्वरूपे दृष्टिं न्यस्य भक्त्यर्थं प्रकल्पितं द्वैतं तत्रास्थाय शिवनाममन्त्रयं जपन्ति ते योगिनः। अथवा शिवालयेषु पूजावसाने ढक्कादिवाद्यैः सह शिव शिवेति रसवर्षिणीं वाचमुच्चारयन्ति ते शिव भक्ता हि निश्चयेन धन्याः कृतार्थ जीवनाः सन्तीति शेषः। उक्तं हि – "शिवेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते" तस्य भस्मी भवन्त्याशु महापातककोटयः इति। अत्राध्वनीन जनानां धन्यवादार्हत्वे सूक्तिवाक्यार्थस्यैव हेतुत्वात् काव्यलिङ्गम्। साभिप्राय विशेषणोपन्यासात्परिकरः। सामान्यजनापेक्षया शिवभक्तानां विशेषतोक्ते र्व्यतिरेकः। यथा तथा वा भवतु। वसन्त तिलकावृत्तमत्र - उक्ता वसन्ततिलका तमजा जगौ गः। इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ– श्रीआचार्यपाद ने अपनी इस सूक्तिरचना के द्वारा प्रतिपादित किया है कि जगत्प्रकाशक-शिवाद्वयतत्त्ववेत्ता आत्माराम पुरुष, सदैव भक्ति भावपूर्ण विशुद्ध प्रेम रस भरी रसना से शैवावनि (काशीकैलाशादि शिवधाम) में शिवनाम श्रवण स्मरण कीर्तन के द्वारा धन्य जीवन हो जाते हैं। स्वयं प्रकाश परमेश्वर शिव में ही सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च प्रकाशमान है या फिर समस्त जगत्प्रपञ्च शिवरूप ही है। वे ही लीलाधाम स्वशक्तियुक्त इस जगत् के अद्वितीय सृष्टा हैं। तथा गुणकर्मानुसार वे ही ब्रह्म-विष्णु-रुद्र संज्ञा धारण करते हैं। अतः **"तस्मान्माहेश्वरी प्रजा"** सिद्धान्तानुसार शैवावनि (शिवमन्दिर) मानव शरीर ही है। नाना उच्चावच शरीरों में भ्रमणशील जीव ही इसमें अध्वनीन है, वह शिवनाम कीर्तनध्वनि से कृतार्थ जीवन हो जाता है। अथवा - शैवावनि शिवधाम पद से मूर्धस्थ सहस्रार चक्र का बोध होता है कि जहाँ भगवान् साम्बसदाशिव सदा विराजमान रहते हैं, वहाँ शिवाद्वयतत्त्ववेत्ता पुरुष योगमार्ग से उनका साक्षात् दर्शन पाकर प्रेमोन्माद से शिवनाम कीर्तनध्वनि रसवर्षण करते हैं, वे ही अध्वनीन (शिवधाम यात्री) धन्यतम हैं।

जो आस्तिक गृहस्थ, वनस्थ, विरक्त जन वेदान्त के श्रवण मनन्निदिध्यासन के द्वारा सद्गुरु कृपा से प्राप्त आत्मैकत्व बोध से सर्वत्र अमृतकलापूर्ण शिवाद्वय तत्त्वाभिन्न अपने आपको समझते हुए, नानात्वनिरासपूर्वक रागद्वेषादि से विनिवृत्त होकर, समाहित चित्त से यत्रतत्र सर्वत्र पुण्यभूमि शैवतीर्थ प्रभृति स्थानों में विचरण करते हुए शिव नाम का निरन्तर कीर्तन घोष

करते रहते हैं, वे जन अति धन्यवाद के पात्र होते हैं। शिवनामोच्चारण से समस्त पाप भस्म हो जाते हैं — **"शिवेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते, तस्य भस्मीभवन्त्याशु महापातक कोटयः"**। भगवती कामेश्वरी (उमा) तथा कामेश्वर भगवान शिव के शक्तिशक्तिमदभिन्न स्वरूप की उपासना से, श्रवण कीर्तन स्मरणादि भक्ति विधाओं के समाश्रयण से अतितुष्ट आशुतोष भगवान शिव, भक्तों की सर्वविध कामनायें पूर्ण कर देते हैं। यद्यपि— निरन्तर कामोपभोग से कामनायें पूर्ण (निरस्त) नहीं होती, वे तो घृत डांलते रहने पर अग्नि के समान बढ़ती ही रहती हैं, तो फिर उनकी पूर्ति कैसे सम्भव होगी? भगवान शिव का कामेश्वरत्व, कामपूरकत्व रहस्यमय है। भगवान शिव का नाम कामेश्वर या कामपूर ही नहीं है कामारि (कमनाशक) भी है। भगवान शिव अपने भक्त का चित्त इतना निर्मल विशुद्ध कर देते हैं कि उसमें किसी भी नश्वर भोग की कामना ही उद्‌भूत नहीं होती। यही वास्तविक कामनापूर्ति है। इस प्रकार पूर्णकाम भक्तजन ही शिवप्रदत्त रामनाम तारक मन्त्र के अधिकारी होते हैं। बन्ध मोक्षकर तारक मन्त्र की प्राप्ति के लिये मुमुक्षुजनों के लिये शिवभक्ति के अतिरिक्त कोई और श्रेयस्कर मार्ग नहीं है। **"शिव पदकमल जिनहिं रति नाहीं, रामहिं ते सपनेहुं न सुहाहीं"**। निग्रहानुग्रहातिशय सामर्थ्यवान भगवान शिव के जगन्मङ्गल नाम सङ्कीर्तन ध्वनि से अन्तःकरण की शुद्धि पूर्वक प्रगाढ़ भक्ति भावना का उदय होता है।

कर्माणि दुष्टफलदानि मया कृतानि
भस्मी भवन्तु सफलानि भवत्प्रसादात्।
मित्राणि सन्तु रिपवोऽपि विनष्टवैराः
शम्भो प्रसीदतु भवान्मम चान्तरात्मा ॥२७॥

व्याख्या— अत्र पूर्वसूक्तिपद्येन निवृत्ति मार्गिणः शिवभक्तान प्रशस्य, प्रकृत सूक्तिपद्येन प्रवृत्तिपथ पथिक शिव भक्त द्वारा सफल समस्त दुष्कर्म विनाशाय प्रार्थनीयाशिष मुदीरयन्त्याचार्यपादाः –

अथ ये कपूयाचरणाः ते कपूयां योनिमापद्येन् श्वशृगाल चाण्डाल योनिं वेति स्वकृत दुष्कृत दुष्ट फलेभ्यो भीतभीतः सन्ननन्यशरणो भक्तः शम्भुं प्रार्थयते — हे शम्भो! शं कल्याणं भवति येन सः, यद्वा अन्तर्भावितण्यर्थ - मादाय शं कल्याणं भावयति भक्तजनस्येति शम्भुस्तत्संबुद्धौ। भवान् प्रसीदतु प्रसन्नो वरदो भवतु मयीति शेषः। भवत्प्रसादात् समस्त भावि विनाशन समर्थस्य भवत एव कृपा प्रसादात्, भवदहैतुकानुग्रहात्, दुष्टफलदानि, अनभिवाञ्छित महाकष्टफलप्रदानि मया कृतानि प्रमादाद्विहितानि विदितान्यविदितानि वा कर्माणि

पापकर्माणि सफलानि दुःख फल सहितानि भस्मीभवन्तु भवत्कृपाग्निदग्धानि सन्तु। येन तेषां पुनः प्ररोहो नस्यादित्याशयः। रिपवोऽपि शत्रवोऽपि विनष्ट वैरा विनिर्गत वैरभावाः सन्तो मित्राणि सुहृदः सन्तु, सर्वभूत सौहार्दवतो मे इति शेषः। एवं मम प्रार्थयितुरन्तरात्मा च प्रसीदतु, रागादि दोष शून्यं मे मनो भवत्विति भावः। यतोहि मनोनैर्मल्यमेव भवगत्प्रसत्तिकरं भवति। चित्तशुद्धौ परमात्मकृपामन्तरा न कश्चिदन्योपायः। तदुक्तम् - "चित्तशुद्धिर्मनुष्याणां परमात्मकृपाफलम्। धन पुत्रादि लाभस्तु पूर्व कर्मकृतं फलमिति। मनोमालिन्य कर्तारो रागद्वेषादयो वैरिणः सन्त्याभ्यन्तरास्त एव प्रबला भूत्वा बहिर्लोकि शात्रवमुत्पादयन्ति। तन्निरासाय भगवान शम्भुः प्रार्थ्यते।" अन्यथातु – "मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः" त्रयस्तस्यापि जायन्ते मित्रोदासीन शत्रवः, रागद्वेषाभिनिवेश वशादेवेति परन्तु भगवत्प्रीति पात्रेषु जनेषु सर्वे ते दयन्ते, इति अत्र भक्तिसम्प्रदाये - भक्तनिष्ठ-भगवदालम्बनक - भक्तिरसाभिव्यक्तिः। आलङ्कारिकमते- देवविषयक रतेरभिव्यञ्जनात् भावध्वनित्वम्। अत्र प्रसीदत्विति क्रिया पदेनोभयत्र दीपनात् क्रियादीपकमलङ्कारः - यद्वा - भाविभगवदनुग्रहस्य प्रत्यक्ष इव विभावनात् कवेरन्तर्गत भावस्यावगमाद् भाविकमलङ्कारः पूर्ववद् वसन्ततिलका वृत्तम्।

भावार्थ– रागद्वेषमूलक - काम, क्रोध, लोभादि प्रबल दोष, सांसारिक भोगवासना वासित अन्तःकरण को मलिन करते रहते हैं। तब मानव दुःखमय अशान्त जीवन जीने को बाध्य हो जाता है। रागद्वेष के वशीभूत होकर वह नश्वर वस्तुलाभ के लिये अशास्त्रविहित, लोकनिन्दनीय कुत्सित आचरण करने लगता है, जिनका कि परिणाम दुःख प्राप्ति ही होता है। मलिन वासना वासित अन्तःकरण काम-क्रोध-लोभ का स्थायी आवास गृह बन जाता है। ये तीनों ही प्रबर वैरी मानव को सन्मार्ग से हटा देते हैं। इन्हें नरक का द्वार बताया गया है। नरक का अर्थ दुःख क्लेश है। **नराः कायन्ति क्लिश्यन्ति येन तत् नरकं दुःखम्** इन तीनों से दूर ही रहना श्रेयस्कर है। इन से पराभूत मानव बन्धमोक्षकर मार्ग का अनुसरण नहीं कर पाता। जबकि मानव जीवन का मुख्य प्रयोजन, ईश्वरांश जीव को सांसारिक दुर्गतिनाशपूर्वक अविनाशी शाश्वत सुखास्पद पद प्राप्त कराना ही है। करुणासागर भगवान ने इसीलिये जीव को मानव शरीर की प्राप्ति कराई है। **कबहुं कि करि करुणा नर देही। देत ईश विनु हेतु सनेही। एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुःखदाई।**

उक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिये ही मानव शरीर को साधन धाम तथा मोक्ष का द्वार बताया है। किन्तु इस कलिकाल में शास्त्रज्ञान समय सहायक, साधन सम्पत्ति उपकरणादि के सर्वथा अभाव के कारण वैदिक अग्निहोत्रादि कर्मकाण्ड का विलोप हो गया है। अतः अब इस धर्मनिरपेक्ष युग में कल्याण का साधन, केवल मात्र विशुद्ध प्रेममय भक्तिभाव से

भगवच्छरणागति ही है। भगवत्समर्चा, भगवन्नाम जप, तथा भगवान को आत्म समर्पण करने से, भगवद्रूप से समस्त चराचर के दर्शन करने से, मनोनैर्मल्य के बाधक सब दोष नष्ट हो जाते हैं। इसी भाव से प्रेरित होकर श्री आचार्यपाद ने प्रस्तुत सूक्ति पद्य के द्वारा भगवान विश्वेश्वर देवाधिदेव महादेव शम्भु से उनकी प्रसत्ति के लिये प्रार्थना अर्पित की है —

हे जगत् का कल्याण करने वाले भगवन शम्भो! मैं आपकी दया का पात्र हूँ। आपके अहैतुक कृपा प्रसाद से मेरे समस्त जन्मार्जित अनिष्ट फलप्रद दुष्कर्म अपने दुष्परिणामों के सहित भस्म हो जायें। हे भगवन्! मेरे आन्तरिक रिपु-राग, द्वेष, काम, क्रोधादि को निरस्त कर दीजिये। तथा बाह्यजगत के प्राणी, जो किसी भी कारण विशेष से मुझ से शत्रुता मानते हैं, वे भी सब वैर भावना भुलाकर मेरे मित्र बन जायें। मेरे अशान्त अन्तरात्मा को शान्ति प्रदान कीजिये। रागद्वेषादि रहित स्वच्छ निर्मल मेरा चित्त सर्वभूत मैत्रव्रती बन जावे। यह सब आपके करुणा कटाक्ष पर ही निर्भर है। भवाटवी में अब तक भटकते अकिञ्चन सेवक पर आप प्रसन्न हो जाइये। आपका कृपा प्रसाद प्राप्त कर मेरा अन्तरात्मा भी सदा सुप्रसन्न तथा शान्तिभाजन बना रहे।

जीर्णातरिः सरिदतीव गभीर नीरा
दाशोऽपि गोप शिशुरल्पकरोऽरुणोऽर्कः।
बालाऽबला कुलवधूरहमद्वितीया
पारे परं शिव! पुरं कथमभ्युपैमि ॥२८॥

व्याख्या— अत्र कश्चित्साधको भक्तः "तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मामृतं गमयेति श्रौतमुपदेशमात्मनि चरितार्थयितुं स्वशरीरादिकं जीर्णतरिप्रभृतिष्वध्यवस्य कल्याण दिग्देशकं भगवन्तं शिवं शरणमभ्यार्थयते प्रपत्ति योगेनेत्याचार्यपादाः स्वसूक्तिपद्येनाभिदधते –

अस्य सूक्तिपद्यस्य वाच्याऽर्थस्तु सुस्पष्ट एव, काचित साध्वी तरुणी असहाया अगाधनद्यास्तटे नौकया द्वितीय तटवर्तिनं स्वग्रामं गन्तुकामा सायं समये विमृशति - इयं जीर्णा नौरस्ति, चालकश्चबालकैवर्तः सूर्योऽस्तं यियासति, कथमहं परं पारं गच्छामीति वाक्यार्थेन अन्योपायाभावदर्शनात् तद्गता चिन्ताभिव्यज्यते।

जीवभूता पराप्रकृतिरेव कुलवधूः, परमेश्वरश्च तत्पतिरेव, प्राकृतिकः संसारस्तस्याः पितुरालयः, मुक्तिधाम तत्पत्युरालयः, रागद्वेष महामोहादिग्राह परीताया अगाध विषय जलाया जीवन नद्या दक्षिणे पारे पितुरालयः, तदुत्तरतटे

पत्युरालयः, आयुषोऽन्त सामीप्यं - जरावस्था सायंकालः। अत्र परा प्रकृतिर्जीवभूता नारी परपारगमन सिद्ध्यै शिवसाहाय्यमाप्तुं किञ्कर्तव्य विमूढा सती स्वचिन्तामित्थं प्रवेदयति - जीर्णा, दुःखशोक जराव्याधि विपद्भिर्जर्जरी कृता इयं तरिर्नौका शरीररूपा - शीर्यत इति शरीरं तदेव तरिः - तरन्त्यनया नदीं सा तरिः। शरीरस्य तरिरूपत्वं श्रीमद्भागवते - "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्"। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत स आत्महा इति, अत्र प्लवस्य तरेर्दार्ढ्यमुक्तं तथापि जरावस्थायां तस्या जीर्णत्वमव्याहतम्। अतएव सूक्तिपद्ये जीर्ण तरिरित्युक्तम्। तथाच - अतिगम्भीरमगाधं नीरं लौकिकरूपरसादि विषय रूपं यस्यां सा, तथा भूतेयं सरित्, सरणात् संसार एव सरित्। दाशःकैवर्तोऽपि जीर्णतरिवाहको गोपशिशुरेव, गोसहचारिजाड्य मान्द्यादिगुणवान् वर्तते। गाः इन्द्रियाणि पातीति गोपः, मनोरूपः सोऽपि शिशुः, शैशवादविकसित बुद्धिः, मनोऽपि बाल इव दुष्परिणामानभिज्ञो, विषयरस-मनुधावति, अर्कोऽपि - बोध भास्करोऽपि, अल्पकरः, स्वल्पविवेक रश्मिवान्, सोऽपि तेजो विहीनः सन् आरुण्यमाप्तोऽस्ताचलं यियासति, अहं पारे परं स्वपुरं जिगमिषुर्बाला विवेक रहिता, अबला आत्मबलहीना, अद्वितीया, असहाया, कुलवधूः कुलीना साध्वी अस्मीति शेषः। अत्र बालारूपेण - अविवेकी ज्ञानदुर्बलः, अद्वितीयः - जीवैक्यवादे निरस्त नानात्वः, कलवधूत्वेन नित्य सम्बद्ध ईश्वरांशोऽविनाशी गृह्यते, इत्थमनयारीत्या मायामोह पतितो दिग्भ्रान्तो मुमुक्षुर्जीवोऽध्यवस्यते। एवमनर्थ परम्परा पतितोऽहं त्वदंशभूतो जीवोपाधिमान्, हे शिव! अनन्य भक्तोद्धारक! कथं केन प्रकारेण अस्या भवनद्याः परपारावस्थितं स्वपुरं यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामाख्यं, परमविश्रान्तिस्थलं स्वरूपभूतं स्वपुरमभ्युपैमि, अभ्युपयामीति सङ्कटापन्न् स्थितौ अशरणशरणं त्वां स्मरामि मामुद्धर प्रभो! इत्याशयः शिवपुरमिति समस्तपद पाठे शिवस्य मुमुक्षुप्रेप्सितस्य पुरमद्वयावस्थानरूपम्। मृत्युपाशात् शिव एव मोच्यति। शेरतेऽस्मिन् जीवा इति शिवः यद्वा - वशकान्तौ धातोर्वर्णव्यत्ययेन शिवशब्दः साध्यते। कान्तिरिच्छा। हिसिधातोर्यथा सिंहः वश कान्तौ तथा शिवः वर्णव्यत्ययतः सिद्धौ पश्यकः कश्यपोयथेति वचनात्। तेन शिवो भक्तैः काम्यत एव। शिवानुग्रहं विना कथं तत्पदप्राप्तिरिति स एव प्रार्थितः सूक्तिपद्ये। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इति श्रौतानुशासनात्। अत्र संसरणमार्गे जीवस्तमसो ज्योतिर्गमयति, असतः सद्गमयति, मृत्योरमृतं गमयतीति मायिकं बन्धनं स्वयमवाप्य शिवोपास्तिं विना दुःख शतानि सहते। स्वयमानन्दरूपोऽपि

सन्नित्याश्चर्यं प्रकटयन्त्याचार्यपादाः। अत्र छेकानुप्रासः शब्दालङ्कारः। चिन्ताया अभिव्यञ्जनाद् भावध्वनिः। बालाया अभिलषित परपारगमना सामर्थ्ये जीर्ण तरित्वादि पद समुदायार्थस्य हेतुत्वात् वाक्यार्थ हेतुकं काव्यलिङ्गःमलङ्कारः। पूर्ववद्वसन्ततिलकावृत्तमत्रापि।

भावार्थ— प्रकृत सूक्तिपद्यार्थ विचार से यह ज्ञात होता है कि श्री आचार्यपाद ने उस मुमुक्षु साधक भक्त का सङ्केत दिया है — जो तम से ज्योति की ओर, असत से सत की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर जाने की दृढ़ भावना से प्रेरित होकर स्वशरीरादिक का तरि प्रभृति में अध्यवसाय करके प्रपत्तियोग द्वारा कल्याण दिग्दर्शक शरणागत वत्सल भगवान शिव से स्वदुर्दशा निरासपूर्वक बन्धमुक्त्यर्थ अभ्यर्थना कर रहा है।

इस सूक्तिपद्य का वाच्यार्थ सुस्पष्ट ही है – कोई असहाय अबला कुलीन युवती स्त्री अकेली सायंकाल के समय नदी के दूसरे तट पर स्थित अपने ग्राम को नाव के द्वारा नदी पार करके जाना चाहती है। किन्तु नदी पारगमन में अनेक विघ्नों की सम्भावना से उद्विग्न होकर समस्त विघ्नबाधा निरासक सर्व समर्थ श्री भगवान शिव से अपनी दयनीय दशा बताकर उनकी शरण चाहती है। चिन्ता उद्वेग से आक्रान्त उस युवती का ध्यान, अनन्य गति एकाग्र चित्त से, 'भावी मेटि' सकने वाली त्रिपुरारि भगवान शिव की ओर ही जा रहा है। उसका कहना है – हे भगवान् शिव! आप ही असहाय जन के सहारे हैं। हे दीनवत्सल! मेरी सङ्कटापन्न दशा है। मैं अपने नदी पार गाँव तक कैसे पहुँच सकूंगी, साधन सब सन्दिग्ध हैं - नदी गहरी है। नाव पुरानी है। मंझधार में धोखा दे सकती है। नाव का चालक मल्लाह बालक भी गोप शिशु है। यह केवल खाना खेलना ही जानता है, नाव चलाने की कला का पारङ्गत नहीं है। सूर्य भगवान भी अब अस्ताचल की ओर जाना चाह रहे हैं। मैं भी बाला अबला कुलवधू एकाकिनी हूँ। मेरा कोई सहायक साथी भी नहीं है। नदी के दूसरे तट पर मेरा गाँव हैं, वहाँ तक पहुँच पाना मेरे लिये अति कठिन जान पड़ रहा है। हे चिन्ताहरण भगवन शिव! मैं अब आपकी शरणागत हूँ। हे दीन वत्सल प्रभो! मुझ दीन दुखिया पर दया कीजिये।

इस सूक्तिपद्य का रहस्यमय अर्थ इस प्रकार समझा जा समकता है — यहाँ जीवरूप परा-प्रकृति कुलवधू है। परमेश्वर उसका पति है। प्राकृतिक संसार उसके पिता का घर है। पिता घर से उसे अपने पति के घर जाना है। बीच में विषम विषय रसवाहिनी अगाधनीरा संसृति नदी है। कामक्रोधादि भयङ्कर ग्राह नदी में जल छिपे रहते हैं। रूप, रस, गन्धादि उसमें गहरे जल के समान हैं कि जिसमें असावधान प्राणी प्रमाद से डूब मरता है। इस नदी के उत्तर तट पर पति का ग्राम है। आयु का अवसान काल- जरावस्था ही सायंकाल है। जीर्ण नौका जराजीर्ण शरीर का चालक मन चञ्चल बालक के ही समान है। आत्मबोध ही सूर्य

है। जीवन के सायंकाल में चिन्ताग्रस्त होने से विवेक रूप किरणें स्वल्प ही रहती हैं। ऐसी दशा में पिता के घर से पति के घर तक पहुँचने के लिये साधन सौविध्य सब अस्त-व्यस्त हैं। तब किङ्कर्तव्य विमूढ़ होकर जीव रूपिणी परा प्रकृति नारी अपनी चिन्ता का कारण बताती हुई अशरणशरण भगवान शिव से साहाय्य याचना कर रही हैं —

हे भक्तों की कामना परिपूर्ण कर देने वाले शिवशङ्कर भगवन्! यह संसृति नदी लौकिक आपात मधुर विषम विषय रूप अगाध जल वाली है। इसमें असावधान पुरुष, जो तैरना नहीं जानता वह डूब मरता है। नदी तरण में सहायक यह नर तनु रूप नाव भी दुःख, शोक, जरा, व्याधि विपत्तियों से जर्जर होकर अब जीर्ण हो चुकी है। काम-क्रोधादि भयङ्कर ग्राह निकर के छिपे रहने से यह नदी और भी दुस्तर है। ये ग्राह इतने प्रबल हैं कि नाव को उलट सकते हैं। देहरूप इस पुरानी नाव का चालक मल्लाह (मन) भी बालक गोप शिशु ही है। नाव चलाने में निपुण नहीं है। यह दुष्परिणाम न समझता हुआ विषय रस की ओर ही सदा दौड़ता रहता है। अर्क-बोध भास्कर भी अपनी स्वल्प विवेक किरण समेट कर अस्ताचल की ओर प्रयाण कर रहा है। मैं उत्तर तटावस्थित अपने पति के ग्राम में जाने को आतुर हूँ। मेरे मार्ग में उपर्युक्त बाधायें खड़ी हैं। मैं बाला (विवेकरहिता), अबला (आत्मबलहीना) अद्वितीया (असहाया) कुलवधू (पतिप्राणा साध्वी) हूँ। यह सब की सब अनर्थ परम्परा मेरे समक्ष उपस्थित है। हे शिवशङ्कर! इसका सत्समाधान आपके अतिरिक्त कोई और दूसरा नहीं कर सकता। (इस रहस्यमयी नारी के सभी विशेषण - बाला, अबला, कुलवधू तथा जीवैक्यवाद से - अद्वितीया समञ्जस हैं)। यहाँ शिव पद को सम्बोधन न मानकर शिवपुर पद पाठ माना जाय तो शिवपुर शब्द से सत्य, शिव, सुन्दर परम विश्रान्ति-धाम स्वपुर अर्थ किया जा सकता है। उस दशा में रहस्यमयी नारी का चिन्ताग्रस्त मानस विमर्श ही सूक्तिपद्य से अवगत होगा। इस सूक्तिपद्य में परा प्रकृति रूप ईश्वरांश जीव जो मायामोह ग्रस्त होकर भी स्मृतिभ्रष्ट, विवेकभ्रष्ट नहीं हुआ है, बोधोन्मुख कुलवधू के रूप में अध्यवसित किया गया है।

पानीय बुद्बुद इवैव चिरायुरेष,
धाताऽपि लोमश मुनेः पुरतो विभाति।
प्रत्येक लोम विलयावसरे मुनेस्तु,
धातान्य एव भवतीति पुराणगाथा॥२९॥

व्याख्या— **कालगणनया स्वकाले सर्वमपि जगत्प्रपञ्चमाविर्भवति नश्यति च। केवलं महाकाल कालात्मनः शिवस्यैवा नाद्यनन्तत्वं नान्यस्य "अमृते-नोदरस्थेन म्रियन्ते सर्वदेवताः। कण्ठस्थित विषेणापि यो जीवति स वै शिव इति।**

आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्तं सर्वं जगत्, ब्रह्मणः परार्धद्वयावच्छिन्नायुः कालावधिकं, मायामयं, मिथ्या भासमानं, निरवय वाखण्डकालात्मनि स्वप्नवत् प्रतीयते, यथा स्वप्ने जीवः कियत्पलेष्वेव बहुकालिकं घटनाचक्रं पश्यति, निद्राभङ्गे सति तस्यतत् किमपि न तिष्ठति, केवलमविनाशी द्रष्टैवशिष्यते। तद्वदिदं द्रष्टृसाक्षिकं विश्वप्रपञ्च, मायिकमसच्च विज्ञेयमिति जनान् बोधयितुमिदं सूक्तिपद्यं प्राहुराचार्यपादाः — तथाहि —

एष धाता, शतानन्दो ब्रह्म चिरायुरपि परार्थद्वयजीवी सन्नपि लोमशमुनेः पुरतः समक्षं पानीयबुद्बुद इवैव विभाति। यथा-जले समीरोत्थापिता बुद्बुदाः क्षणेनैव विशीर्यन्ते तथैव क्षणमात्रेण ब्रह्मण आयुर्नश्यतीति भावः। एतदुक्तमुत्तरार्धेन समर्थ्यते — लोमशमुनेस्तु प्रत्येक लोम विलयावसरे, प्रति रोम निपात समये धाता जगतो धारण पोषण कर्ता ब्रह्मा अन्यो भवति पूर्वश्च नश्यति। लोमश मुनेरेक लोमनिपात कालावधिकं परार्धद्वयजीविनो ब्रह्मण आयुष्यम् इतिभावः। इति पुराण गाथा, प्रमाणमस्तीति शेषः। "ब्रह्मवैवर्तपुराणे - लोमश मुनिर्देवराजमिन्द्रमुवाच - सर्वं प्राणि प्रलयानन्तरं ब्रह्मापि म्रियते। तदा केशाश्रित पापकर्तनाय वैधानिकं मुण्डनं मत्वा तदानीं नापिताभावात्। स्वयमेवैकं शरीरात् बालमुत्पादयामीति। दैवीमीमांसा भाष्ये - सर्वेऽपि मृत्युवशगाः कालकवलभूताः, केवलं शिव एव जन्मजरा मरणादि रहितो निष्कल इत्युक्तम् - "चतुर्युग सहस्त्राणि दिनं पैतामहं भवेत्। पितामहसहस्त्राणि विष्णोश्च घटिका मता। विष्णोर्द्वादश लक्षाणि कलार्धं रौद्रमुच्यते। इति क्षणिकमेवेदं सर्वं मायामात्रम्।" "जाग्रत, स्वप्नः, सुषुप्तञ्च माया त्रिपुरमुच्यते" तदेतस्मिन् माया निर्मित जाग्रदादि पुरत्रये गतागतं कुर्वन् जीवो न क्वचिच्छान्ति लभते। तदेतत् त्रिपुरं शिव एव त्रिशूल घातेन लयं भावयति। तेन स त्रिपुरारिः कथ्यते। इदमेव तस्य प्रलयकर्तृत्वम्। यदा माया जवनिकाच्छन्न त्रिपुर विलयो भवति तदा जीवः प्रबुध्यते, स्वप्नवच्च सर्वं दृश्यं विलीयते। अत्र श्री गौडपादाचार्याः प्राहुः - "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा इति। अतो मिथ्याभूतया मायया विनिर्मितमिदं प्रपञ्चजातं सर्वं मिथ्यैवेति विभाव्य शाश्वत शान्ति लाभाय निग्रन्था भवेयु रित्याचार्याणामुपदेशः सूक्तिपद्येन बोद्धव्यः। मायापि मिथ्या तत्कार्यमपि मिथ्यैवेति तदुक्तम् - "नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका" सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनीति। व्यासपादैरप्यभिहितम् -"श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं

ग्रन्थकोटिभिः सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरः" इति। अत्र सूक्तिवाक्यार्थरूपात् ज्ञापकात् विदग्ध वेध्य सूक्ष्मार्थ प्रकाशनात् सूक्ष्मालङ्कारः। वसन्ततिलका च वृत्तम्।

भावार्थ— लोक लोकान्तर वासी समस्त प्राणि वर्ग का जीवनकाल कालगणना के आधार पर निर्धारित हुआ करता है। अनादिकाल से अनन्तकाल तक नित्यसत्तावान, मृत्युञ्जय भगवान साम्बसदाशिव महेश्वर ही केवल कालातीत होने से कालगणनाकी परिधि में नहीं आते। वे महाकाल के भी काल हैं। महाकालेश्वर भगवान शिव का निदेश वशवर्ती होकर ही काल सदा सृष्टि, स्थिति, संहार की पालन क्रिया में प्रवृत्त होता रहता है। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत्प्रपञ्च, निमेषादिवत्सरान्त-कालगणना की चपेट में रहता है। समस्त देवगण अमृत पीकर भी शाश्वत अमरत्व प्राप्त नहीं कर पाते। उनका अमरत्व सावधिक ही होता है। परमेश्वर परम शिव की अव्याहत गतिशील इच्छा शक्ति से विष अमृत और अमृत विष हो जाता है। इसी सन्दर्भ में ब्रह्मनिर्मित मिथ्या भासमान मायामय विश्वप्रपञ्च भी ब्रह्माजी की परार्धद्वयकालावधिक आयु तक ही अखण्ड निरवयव-कालात्मा में स्वप्नवत प्रतीत हो रहा है। जैसे स्वप्नदृष्टा प्राणी स्वप्न में कुछ पलों में ही अनेक वर्षों का घटनाचक्र देख लेता है, तथा निद्राभङ्ग होने पर सबका सब अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार यह असत प्रतीत मायिक जगत्प्रपञ्च भी स्वप्नवत् दृश्य होता है तथा नष्ट हो जाता है। शास्त्रीय उद्बोधन वाक्य से इसका समर्थन प्राप्त है —**दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्त विभ्रमम् दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं दुःखसागरम्** अर्थात् दैनन्दिन स्वप्न काल में दृष्ट की अपेक्षा अधिक काल तक दिखाई देने वाला स्थावर जङ्गमात्मक दृश्य प्रपञ्च दीर्घ स्वप्न ही है। अथवा चित्त की दीर्घकालिक भ्रान्ति या फिर केवल मनोराज्य मात्र ही है। गोस्वामी तुलसीदासजी वा समर्थन वचन —

सपने होई भिखारि नृप, रङ्क नाकपति होइ। जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपञ्च जिय जोइ। जिस प्रकार सुप्त पुरुष स्वप्नकाल दृष्ट हानि लाभ से दुखी सुखी होता है, वैसे ही इस काल्पनिक स्वप्न सदृश संसार में प्राणी, अभीष्ट तथा अनभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से व्यर्थ ही सुखी दुखी होता रहता है। जन्मशताधिकभ्यस्त भूख की वासना से रोते हुए स्तनन्धय शिशु के मुख में उसकी माता रबड़ का निपल लगा देती है। वह शिशु भी भ्रान्ति से दूध समझ कर चूसता है और चुप हो जाता है उसी प्रकार जगज्जननी महामाया भी समय समय पर शिशुवत् प्राकृत प्राणी को उसकी प्रतीयमान अभीष्ट वस्तु प्राप्ति का दृश्य दिखा कर बहलाती रहती है। अपनी मनमानी अनुकूलता प्रतिकूलता से ही संसारी प्राणी सुखी दुखी होता रहता है। सृष्टि के नियमानुसार सुख-दुःखमय चक्र चलता ही रहता है — **सुखस्यानन्तरं दुःखं, दुःखस्यानन्तरं सुखम्, सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्तते।** अनादिकालीन भोगवासना कलुषितान्तःकरण मानव इस मायामय आवागमन के चक्र में फंसता ही जाता है। निराकार,

निर्विकार, निरामय, निर्मल, अविनाशी, सच्चिदानन्द रूप जीव की यह दुर्दशा अवर्णनीय है। यह सब मायामोह का ही विलास है — **गो गोचर जहं लगि मन जाई, तहं लगि माया जानहु भाई - आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन** भगवदुपदिष्ट संसार की अनित्यता, नश्वरता का बोध कराने के उद्देश्य से श्री आचार्यपाद ने यह सूक्तिपद्य प्रस्तुत किया है।

उक्त विचार को सुपुष्ट प्रमाणित करने के लिये श्री आचार्यपाद ने सूक्तिपद्य में पुराणगाथा का सार उद्धृत किया है। पृश्निगर्भ ब्रह्माण्ड के विधाता (ब्रह्माजी) मानवीय कालगणना के अनुसार अति चिरायु होने पर भी लोमश मुनि के समक्ष जलबुद्बुद के ही समान हैं। जैसे जल में उठा बुद्बुद क्षणमात्र में विशीर्ण हो जाता है, वैसे ही ब्रह्माजी की अपेक्षा अति दीर्घजीवी लोमश मुनि के एक बाल गिरने पर चिरायु ब्रह्मा की आयु का अवसान हो जाता है। तदनु अन्य ब्रह्मा का उद्भव होता है। ब्रह्मा के आविर्भाव-तिरोभाव का चक्र अनवरत चलता रहता है। ब्रह्मा का आयुष्काल लोमश मुनि के एक रोमनिपातकाल के समान है। ब्रह्म वैवर्तपुराण में — स्वयं लोमश मुनि ने देवराज इन्द्र के समक्ष यह रहस्योद्घाटन किया है— "जब स्थावर जङ्गमात्मक विश्व प्रपञ्च के विलय हो जाने पर ब्रह्मा का देहावसान हो जाता है, तब ब्रह्म परिवार में, अकेला मैं ही रह जाता हूँ। उस समय आशौच निवृत्ति निमित्तक केश मुण्डन का वैधानिक कार्यभर मुझको ही वहन करना होता है। उस समय नापित के अभाव के कारण स्वयं ही मैं अपने शरीर से एक बाल का उत्पाटन कर देता हूँ। प्रत्येक ब्रह्मा के विलय होने पर रोमोत्पाटन करते करते अब तक मेरा वाम जानुपालिस्थान रोमरहित हो गया है। इसी क्रम के अनुसार जब मेरे शरीर के सब बाल गिर जायेंगे तब मेरा भी अन्त हो जायेगा, यह निर्धारित तथ्य है।"

इस पुराणगाथा से यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि यह मायामय नामरूपात्मक विश्वप्रपञ्च नश्वर है। दैवीमीमांसा भाष्यानुसार - केवल भगवान शिव ही जन्म, जरा, व्याधि रहित हैं, अन्य कोई भी नहीं। दिव्य सहस्र चतुर्युगी वर्ष बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मलोक की कालगणना के अनुसार ब्रह्मा का आयुष्काल सौ वर्ष माना गया है। सहस्र ब्रह्माओं के विलय हो जाने पर विष्णुलोक की घड़ी में केवल एक घटिका (२४ मिनट) ही बीतते हैं। विष्णुलोक की कालगणना के अनुसार बारह लाख विष्णु जब समाप्त हो जाते हैं, तब रुद्र भगवान की सूक्ष्मकाल कला का आधा भाग ही व्यतीत होता है। भगवान श्री शिव के निमेष मात्र में सृष्टि तथा प्रलय दोनों ही हो जाते हैं। तात्पर्य यही है कि यह नाम रूपात्मक दृश्य प्रपञ्च मायामात्र ही है। अखण्ड निरवयव कालात्मा में निमेषादि वत्सरान्त व्यावहारिक काल विभाग की कल्पना भ्रान्ति मूलक ही है। किन्तु यह सब असत्य मार्ग भी सत्य के अवगम में सहायक होता है — **असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते, इति** तम से ज्योति की ओर, असत से सत की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर चलने का मार्ग मुमुक्षु साधकों के लिये दिखा देता है। सांसारिक असत भोगों में आस्था रखने वाला, कर्मजाल

जड़ीकृत, रागी पुरुष परमेश्वर का अभिन्न अंश होकर भी, मायानिर्मित जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त संज्ञक पुरत्रय में अनवरत गतागत करता हुआ शाश्वत शान्तिलाभ प्राप्त नहीं कर पाता, अनादि काल से ही निगड़ित होकर पुरत्रय रूप कारागार में जीवन यापन करता रहता है। जब कभी जीव के शुभ अदृष्ट वश, अपार करुणासागर आशुतोष भगवान सर्वेश्वर शिव, अपने त्रिशूल घात से तीनों मायामय परों का विलय कर देते हैं, तब सुप्तोत्थित पुरुष के स्वप्नदृश्यविलय के समान, प्रबुद्ध पुरुष के दृश्य संसार का अत्यन्त विलय हो जाता है। तब दृश्य दर्शन दोनों द्रष्टा में समा जाते हैं। तदुपरान्त दृश्य के अभाव से द्रष्टत्व का भी निरास हो जाता है तथा अनुभवैक गोचर कोई एक ही तत्व शेष रहता है। तब वह सत्यवत् प्रतीत होने वाला, मिथ्या माया का मिथ्या कार्यरूप, विश्वदृश्य प्रपञ्च स्वयं ही छिन्नाभ्रवत् विनष्ट हो जाता है। अतः इस विचित्र मायापुरी के प्राकृतिक त्रिपुर कारागार से छुटकारा पाने के लिये केवल सर्व समर्थ सर्वेश्वर दयालु भगवान त्रिपुरारि शिव की शरण ग्रहण करना ही एकमात्र उपाय है। श्री आचार्यपाद ने अपने सूक्तिपद्य से यही अभिव्यक्त किया है। शिवपदप्रीतिमयी भक्ति, माता के समान अज्ञ बालकवत् जीव की रक्षा कर लेती है। तथा फलाकांक्षा रहित केवल शिव प्रीत्यर्थ ही किया जाने वाला कर्म भी पिता के समान भक्त को विषयों के गहन गर्त में गिरने नहीं देता। भक्तिकर्म प्रसूत ज्ञान और वैराग्य उत्तम सद्गति मार्गदर्शक बन जाते हैं। तब अनादि मायामय कारागार से सदा के लिये छुटकारा मिलना सम्भव हो जाता है। **भक्तिर्माता पिता कर्म, ज्ञानवैराग्य पुत्रयो, एवं वो वेत्ति पुरुषो मुक्तिभागी न संशयः।**

वीरावली हृदय सारस जागरायै
मार्तण्ड भैरववपुर्जगति प्रसिद्धा।
सम्प्रेरयेदखिल राष्ट्रजनाऽवनाय
सम्पादनाय विजयादशमी जनस्य ॥३०॥

व्याख्या— **अत्र सूक्तिपद्ये - विजयादशमीपर्व प्रयुक्त विधि-सम्पादन हेतुक समीहित लाभार्थं जनान् शुभमाशंसन्ते आचार्यपादाः —**

अत्र स्पष्टार्थावगत्यै यत्तत्पदयोराहारः क्रियते, या, विजयादशमी, वीरावली, उद्भट भटपटली तस्या हृदयमेव सरस्तत्र भवं सारसं सरोजं विजयोत्साहरूपं तस्य जागरायै प्रबोधाय, यद्वा - हृदयमेव ओजस्विहृदयमेव सरोजं तत्प्रबोधाय, विजययात्रोत्साह वर्धनायेत्यर्थः - मार्तण्डस्येव भैरव दुष्प्रसह तेजस्विवपुर्यस्याः सा (विजयादशमी) जया विजया जयन्त्यपराजिता महाशक्त्याराधना तिथित्वात्, सूर्योदये सरोजानां विकासस्तद्वत् मार्तण्डभैरव

वपुर्विजयादशम्यां वीराणामुत्साह साहस नीरज विकासो भवतीति भाव:। जगति संसारे प्रसिद्धा अनादि परम्परया ख्याता। (पुराकाले - चतुर्मासे जल प्लव दुर्दिनान्धकार मार्गावरोधकारणात् युद्ध विरत क्षत्रिय वीरैर्विजय कामनया विजयादशम्यामेवापराजिताशमी शस्त्रास्त्र वाहन वाद्यादि पूजापूर्वकं सीमोल्लङ्घन विजय यात्रोत्सवादिकं विधीयते स्म। सा च विजयादशमी, वर्ष पर्यन्तं विजय लाभाय चतुर्भिरपि वर्णैर्विशेषेण द्विजातिभिरनुष्ठेय विजयोत्सव पर्व दिवसोऽस्ति) अखिल राष्ट्र जनानामवनाय रक्षणाय आय:अर्थागम, अय:शुभावहो विधिर्वा तत्सम्पादनायसङ्ग्रहाय, जनस्येति जातावेकवचनम्, अत्राशिषोऽर्थे कर्मणि षष्ठी च, तेन जनान् चतुरोऽपि वर्णान क्रमेण बुद्धि-बाहु-धन-श्रमशिल्प बलाधिकृतान् सम्प्रेरयेत, सम्यक् प्रेरणादायिनी भूयात्। इत्याचार्यपादानां शुभाशंसनम्। अत्र वीरावली हृदय सरोज विकासाय विजयादशम्यां। मार्तण्डभैरव वपुष्ट्वमुत्प्रेक्षितम्। वसन्ततिलका चात्र वृत्तम्, लक्षणमुक्तं प्राक्।

अथ प्रसङ्गादत्र संक्षेपेण विजयादशमी पर्व विवेक: - प्रति वर्षमाश्विन शुक्ल दशम्यां नवरात्र पक्षे श्रवणनक्षत्रे विजय मुहूर्ते भारतीयार्य मानवा विजयोत्सवं समारम्भते। अत: सा विजयादशमीति कथ्यते, अनादिकाल परम्परा प्राप्तो यं विजयोत्सव:, समग्र वर्षावधि सर्वत्र सार्ववर्णिक विजय लाभ सुखशान्ति समृद्धिलाभाय महता संरभेणानुष्ठीयते। तत्र विद्वांसो विप्रा: शास्त्रार्थे विजय लाभाय, धर्माचार्याश्च धर्मप्रचाराय, अध्येतारश्च स्वाध्याय साफल्याय मूलेन मेधा भिधानां सरस्वतीमावाह्य प्रत्यहं सम्पूज्य श्रवण दशम्यां समर्च्योत्थाप्य सीमोल्लङ्घनमाचरन्ति। क्षत्रियाश्च सर्वशक्तिमयीं दुर्गा महाकालिकां शारद नवरात्रे बल्युपहारादिभिरभ्यर्च्य श्रवण दशम्याञ्च विसृज्य तच्छक्तिमात्मन्याधाय शमीवृक्षमपराजिताञ्च सम्पूज्य रावणवधञ्चाभिनीय विधिना विजय यात्रामारभन्ते। वणिजश्च - प्रभूत धनार्जन कामनया महादेवीमभ्यर्च्य व्यापार यात्रा मङ्गलं कुर्वन्ति। एवं शिल्पिन: श्रमिकाश्च स्वजीविकोपार्जनाय तत्नुगुणोपकरणानि सम्पूज्य यत्र तत्र प्रतिष्ठन्ते। इत्थं सार्ववर्णिकोऽप्ययं विजयोत्सवो विशेषेण ब्राह्मणै: क्षत्रियैश्चावश्यं सविधि समनुष्ठीयते। तयोश्चेदं धर्मशास्त्रीयं वचनं प्रेरणाप्रदम् "द्वाविभौ ग्रसते भूमि: सर्पो विलशयानिव, क्षत्रियञ्चावियोद्धारं ब्राह्मणञ्चाप्रवासिनम्" इति। यतोहि - बुद्धे र्बाह्वोश्च बलेनैव देशराष्ट्रहितं कर्तुं पार्यते, तस्मात् ब्राह्मणा मेधां सरस्वतीं, क्षत्रियाश्च सर्वशक्तिसमूह मूर्तिं महादुर्गां शारद नवरात्र पक्षे समुपासते। उपास्यदेवताया उप

समीपेस्थितिरेवोपासना पदार्थः। स च ध्यानयोग-पर्यायः। यदेव ध्यायति तदेव भवतीत्यनुशासनात्। साधकचित्तवृत्तेरेकत्र देवतायां स्थिरीकरणाभ्यासयोग एवोपासना कथ्यते।

मनस एतद्वैशिष्ट्यमस्ति। यस्मिन् वस्तुनि मनः स्थिरं भवति तद्वस्तुगुण धर्मान सगृहणाति, ततः क्रमेण सततमभ्यासवशात् उपासको ध्येयाकारतां प्रपद्य भृङ्गिकीटन्यायेन स्वशरीरेन्द्रियादिकमपि ध्येय गुणधर्मैर्योजयति। अतः शाक्ता विप्रादयः शक्त्युपासनया बल बुद्धिपौरुषमवाप्य विजयपर्वदिनादारम्भ्याष्टौ मासान् यावत्। राष्ट्रहितकार्येषु सक्रियं योगदानं कृत्वा वर्षतौ मार्गरोधाद्यन्तराय पातात् गृहे विश्राम्यन्ति, तस्मात् कारणात् नवरात्र पक्षे विजयोत्सवान्तं शक्तिपूजनमावश्यकमनिवार्यञ्चेत्युक्तं भविष्यपुराणे - "पूजनीया जनैर्देवी स्थाने स्थाने पुरे पुरे स्नातैः समुदितैर्हृष्टै ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्नृपैः। वैश्यैः शूद्रैर्भक्तियुक्तैर्म्लेच्छैरन्यैश्च मानवैरिति।" यतो हि - सैव भगवती अतीतानागतवर्तमान वस्तुषु शक्तिरूपेण विराजते – यच्च किञ्चत क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके, तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे मयेति ब्रह्मकृत शक्तिस्तवे।

नवरात्रपूजाया अनिवार्यत्वं भविष्ये - "यो मोहादथवालस्याद् देवीं दुर्गां महोत्सवे न पूजयति दम्भाद्वा दैवाद्वाप्यथ भैरव क्रुद्धा भगवती तस्य कामानिष्टान् निहन्ति वै।"

भगवान श्रीरामचन्द्रोऽपि वानर सैन्यैः सह विजयादशम्यां देवीमपराजितां शमीञ्च सम्पूज्य विजय मुहूर्ते रावणवधाय लङ्का प्रतस्थे, इति चतुर्वर्ग चिन्तामणौ कश्यपवचनम् - "श्रवणर्क्षेतु पूर्णायां काकुत्स्थः प्रस्थितो यतः उल्लङ्घयेयुः सीमानां तद्दिनर्क्षे ततो नरा" इति। विष्णुधर्मेऽपि - सीता दृष्टेति हनुमद्वाक्यं श्रुत्वाकरोत्प्रभुः। विजयं वानरैः सार्धं वासरेऽस्मिन् शमीतले। (अत्र विजयं विजयोत्सवमित्यर्थः न तु रावणवधं चक्रे इति) । रावणवधस्य वैशाख कृष्ण चतुर्दश्यामुक्तत्वात्। वसिष्ठोऽपि विजयादशमीं प्रशशंस - "सर्वदुःखशमनी यशस्करी लाभदा च दशमी निरन्तरम्।" इति। इत्येवं संस्मृत्याचार्यपादा आस्तिक भक्तेभ्यो विजयादशम्युपलक्षितं शुभाशंसनं सूक्तिपद्य द्वारा प्रायच्छन्।

भावार्थ— इस सूक्तिपद्य के द्वारा श्री आचार्यपाद ने विजयादशमी पर्व पर सश्रद्ध, सविधि सम्पाद्य समर्चनोत्सव समारम्भ से होने वाले समीहित लाभ के लिये भारतीय आस्तिक जनता को अपनी ओर से शुभाशंसन प्रदान किया है। जिस विजयादशमी पर्व का दुष्प्रसह

तेजस्वी स्वरूप संसार में मार्तण्ड मण्डल के समान प्रसिद्ध है वह विजया दशमी, वीरभट समुदाय के ओजस्वी हृदय पङ्कज को विकसित करने में पूर्ण सहायक सिद्ध हो। सूर्योदय होने पर कमलों का विकसित होना स्वभाव सिद्ध है। प्रचण्ड मार्तण्ड भैरवाकृति विजयादशमी भी प्रतिवर्ष सङ्ग्रामजयी योद्धाओं के हृदयों में आकांक्षित युद्ध के लिये शौर्य वीर्य पराक्रम उत्साह भर देती है। राष्ट्र रक्षक शूरवीर सैन्य समुदाय, वर्षा ऋतु के चार मास तक जलप्लावनादि विविध अन्तरायों के कारण हुए, युद्ध विराम के अनन्तर सोत्साह युद्धार्थ सन्नद्ध हो जायें। यह विजयादशमी पर्व, सम्पूर्ण राष्ट्र वासी जनों के संरक्षण के लिये सर्वाभीष्ट वस्तु जात के संग्रह की शुभ प्रेरणा प्रशासक वर्ग को प्रदान करें। सार्ववर्णिक जन समुदाय भी मिलकर राष्ट्रहित कार्यों में सक्रिय सहयोग प्रादान करने के लिये तत्पर रहें। यह विजयादशमी पर्व समस्त जनता के शुभ मङ्गलमय सर्वाभ्युदय की दिशा प्रशस्त करें। भारतीय वर्णाश्रम धर्मावलम्बी समस्त आस्तिक जनवर्ग सुख समृद्धि प्राप्त करें। यह शुभाशंसा अपनी ओर से श्री आचार्यपाद ने विजयादशमी पर्व के शुभ अवसर पर प्रदान की है। यह विजयादशमी पर्व अनादिकाल परम्परा से भारतवर्ष के सभी भूभागों में प्रतिवर्ष सहर्ष सोल्लास मनाया जाता है। इसके सम्बन्ध में संक्षेप से शास्त्रीय विचार प्रस्तुत कर देना प्रासङ्गिक होगा। आश्विन नवदुर्गा पक्ष में श्रवण नक्षत्र युक्त दशमी तिथि में विजयप्रद योग माना गया है। इसी कारण इसे विजयादशमी कहा जाता है। अनादिकाल से शास्त्रोक्त मान्यतानुसार यह विजयोत्सव पर्व, प्रतिवर्ष चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की समग्र सुख समृद्धि का संदेश लेकर आता है।

शास्त्रार्थ विजयार्थी विद्वान् ब्राह्मण जन, शास्त्रार्थ में विजय लाभ के लिये, तथा धर्माचार्य विद्वान् सर्वत्र धर्मप्रचार की सफलता के लिये, गुरुकुल वासी अध्ययन शील छात्रगण, साङ्गोपाङ्ग वेदादि विद्याप्राप्ति के लिये आश्विन शुक्ल सप्तमी मूलनक्षत्र योग में मेधानाम से सरस्वती देवी का आह्वान प्रतिष्ठापन पूजन आरम्भ करके श्रवण दशमी योग विहित विजय मुहूर्त में पूजन, विसर्जनोपरान्त सीमोल्लङ्घन विधि का आचरण करते हैं। क्षत्रिय वीरजन, अतुलित युद्ध सामर्थ्य प्राप्ति पूर्वक शत्रु समुदाय को युद्ध में पराजित करने की कामना से शारद नवरात्र में सर्व शक्तिस्वरूपिणी भद्रकाली दुर्गादेवी का बलि उपहारादि से समर्चन करके श्रवण दशमी में, उत्तर पूजन विसर्जन विधि सम्पादनोत्तर काल में महाशक्ति का अपने में आधान करते हैं। तदनु शमी वृक्ष अश्मन्तक वृक्ष का पूजन कर शमी वृक्ष के मूल में अपराजिता देवी का तथा श्रीराम भगवान का पूजन करके शस्त्रास्त्र वाहन वाद्यादि पूजन पूर्वक विजय यात्रोत्सव - सीमोल्लङ्घन विधि का आचरण करते हैं। इन दिनों शास्त्रोक्त विधान के अनुसार क्षत्रिय नरेश रामलीला का आयोजन करते हैं। विजयादशमी में श्रीराम विजय रावण वध के अभिनय शास्त्रादेश प्राप्त है। इसी प्रकार व्यापारी वणिक समुदाय व्यापार द्वारा प्रभूत धनार्जन कामना से महादेव महादेवी का पूजन करके विजय मुहूर्त में व्यापार यात्रा मङ्गल सीमोल्लङ्घन करते हैं। तथा श्रमिक शिल्पीजन धन धान्यादि लाभ के लिये अपने उपकरणों का सविधि पूजन

करके सीमोल्लङ्घन करते हैं। यद्यपि यह विजयादशमी पर्व सार्ववर्णिक योगक्षेम जनक होने के कारण सभी को मान्य है, तथापि विशेष रूप से ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के द्वारा ही सविधि अनुष्ठित किया जाता है। क्योंकि बुद्धिबल तथा बाहुबल के प्रतीक हैं। इसीलिये ब्राह्मण समुदाय मेधा सरस्वती की तथा क्षत्रिय वीरजन सर्व शक्तिसमूह मूर्ति श्री दुर्गाजी की शारद नवरात्र में उपासना करते हैं। उपास्य देवता के अत्यन्त समीप हो जाना ही उपासना का अर्थ है।

यह उपासना ध्यान योग का पर्याय है। जिसका ध्यान किया जाता है, ध्याता तद्रूप हो जाता है। ध्यान योग के द्वारा ध्याता ध्येयाकारता को प्राप्त कर लेता है। अतः किसी एक देवता के रूप में मन का स्थिरीकरणाभ्यास योग ही उपासना होता है। मन का यह स्वभाव है कि जिस वस्तु में वह स्थिर हो जाता है उस वस्तु के गुण धर्म ग्रहण कर लेता है। अतः उपासक का मन, ध्येयाकार होकर स्वशरीरेन्द्रियादिक को भी तच्छक्ति सम्पन्न बना लेता है। इसीलिये ब्राह्मणदि वर्ण, शक्ति उपासना से विद्या, बुद्धि, बल, पौरुष प्राप्त करके विजयपर्व दिवस से लेकर आठ मास तक राष्ट्रहित कार्यों में सक्रिय योगदान करते हैं। वर्षा ऋतु में चार मास तक वर्षा प्रपातादि कारणों से अपने स्थान पर विश्राम करते हैं। भविष्य पुराण में – विजयोत्सवान्त शारद नवरात्र पूजानुष्ठान अत्यावश्यक तथा अनिवार्य कहा गया है। जो आस्तिक ब्राह्मणादि मानव शारद नवरात्र पूजा विधि सम्पादन नहीं करता, वह अभीष्ट लाभ से वञ्चित होता है।

चतुर्वर्ग चिन्तामणि ग्रन्थ में कहा गया है कि भगवान रामचन्द्रजी ने विजयादशमी के विजयमुहूर्त में, लङ्का समरविजय, रावण के वध की कामना से शमी पूजन तथा अपराजिता देवी का पूजन कर के ही लङ्का को प्रस्थान किया था। कुछ हिन्दी पाठ्यपुस्तकों में लिखा मिलता है कि भगवान श्रीरामचन्द्रजी ने विजयादशमी में रावण वध किया था, अतः विजयादशमी श्रीराम विजय दिवस है। राष्ट्र नेता भी यही मानते हुए कहते हैं —**यह दिवस बुराई पर अच्छाई की जीत का प्रतीक है**। किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। महर्षि कश्यप के वचनानुसार तथा विष्णुधर्मग्रन्थ के वचनानुसार, संस्कृत रामायण ग्रन्थों के अनुसार विजयादशमी श्रीराम विजययात्रा दिवस ही है। रावण का वध वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को हुआ था। विजयादशमी के दिन रावणवध का अभिनय कराने का शास्त्रीय विधान है जो कि अनादिकाल से अब तक मान्य है। शारद नवरात्र में श्रीराम लीला का मञ्चन शास्त्रोक्त है। ब्रह्मर्षि वसिष्ठजी ने विजयादशमी के महत्त्व को स्वीकारते हुए कहा है कि विजयादशमी आराधक जन के समस्त दुःखों का शमन कर देती है तथा यशोवृद्धि के साथ अभीष्ट वस्तु का लाभ देती है। श्री आचार्यपाद ने विजयपर्व को अति विशिष्ट समझकर सूक्तिपद्य के द्वारा आस्तिक भक्त जन को शुभकामना प्रदान कर अनुगृहीत किया है।

मूल प्रमाण वचन संस्कृत व्याख्या में देखें। प्रतिवर्ष अनेक तिथि वार नक्षत्र योग घटित व्रत पर्वों ने भारतीय हिन्दू संस्कृति को चिर स्थायित्व प्रदान कर अब तक हिन्दू धर्मधारणा को सुरक्षित किया है।

राकाशशाङ्कशरदङ्क मृगाङ्कमेत्य
स्वाध्यायमातनुत मा कुरुत प्रमादम्।
ज्योत्सनोत्सवोऽस्य रचयेत् कमपि प्रकाशं
श्री राष्ट्रजीवनपथं जनजागरायै ॥३१॥

व्याख्या— पूर्व सूक्ति पद्य द्वारा विजयोत्सव पर्वणि जनेभ्यः शुभाशंसनं वितीर्याचार्यपादा अत्र सूक्तिपद्ये - सरस्वती शयनोत्सवे विरत स्वाध्यायेभ्यो द्विजेभ्यः स्वाध्यायाभ्यासेन सम्मतिं प्रदिश्य, शरदुत्सवो जनानां सुख शान्ति लाभाय भवेदित्याशंसन्ते —

राका शशाङ्केषु पूर्णिमाचन्द्रेषु शरदङ्क मृगाङ्क शरदृतु क्रोडीकृत पूर्णचन्द्रं, शरत्पूर्णिमाचन्द्रमित्यर्थः। अत्र राका शशाङ्कस्य प्रतिमासं सत्त्वात् स्पष्टार्थावगत्यै शरदङ्क मृगाङ्केति पदमभिहितम्। शरत्पूर्णिमातिथिमेत्य प्राप्य व्यतिगमध्य स्वाध्यायं वेदवेदाङ्गाध्ययनमातनुत अभ्यस्यत (अत्रर्न स्वाध्यायमधीयीत न लिखेत् न पठेदित्यनुशासनात् सरस्वती शयनोत्सव दिवसेषु आवरूद्धं वेदादि स्वाध्यायं पुनरनुतिष्ठतेत्याशयः) । अत्र स्वाध्याय कर्मणि प्रमादं मा कुरुत, स्वाध्यायायान्मा प्रमादं इति श्रौतानुशासनात्। द्विजानां वेदाध्ययनमेव परोधर्मः अधीयते इत्यत्यायो वेदः। षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति ब्राह्मणस्य निष्कारणोधर्म इत्युक्त्वात् लौकिक जीविकोपार्जनादि कारणरहितस्य तस्य केवलं ब्राह्मणत्व संरक्षकत्वात् निष्कारणत्वमुक्तम्। उक्तञ्च— "ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते। कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्त सुखाय च।" अत्र ब्राह्मणस्य स्वाध्यायः परमं तप उच्यते। अस्य स्वाध्यायस्य, स्वाध्यायशीलस्य द्विजस्य वा, जनजागरायै, जनानां देशवासिनां जागरायै स्व स्व वैदिक वर्णाश्रम प्रयुक्त धर्माचरण प्रवृत्यै, यद्वा कोजागरीव्रत विशेष विहित रात्रि जागरणाय, (शरत्पूर्णिमायां रात्रौ नारिकेल जलं पीत्वा लक्ष्मीन्द्र प्रभृति देवता पूजन पूर्वकं द्यूतक्रीडा वेद स्वाध्याय पुराण श्रवणादिना) जागरणं विहितम्। तद्रात्रौ सर्वत्र भव्य भवनेषु पर्यटन्ती लक्ष्मीरुद्घोषयति "को जागर्ति कस्मै धनं प्रयच्छामीति। तद्रात्रौ यो जागर्ति स वर्षपर्यन्तं सुख समृद्धि लभते।"

जागरणमकर्तुश्च जनस्य वर्षं यावत् प्रमादालस्यादयो दोषा वैचित्यमुत्पादयन्ति। अतस्तद्दिने भारतीया द्विजातयः कोजागरीव्रतमाचरन्ति। स्वाध्यायशीला द्विजा महालये पित्रादि पार्वण श्राद्धं निर्वाप्य शत्पूर्णिमादिवसे प्रातर्नान्दीमुख पितृश्राद्धं दत्वा वार्षिकं पितृ सन्तर्पणं विदधति। एतदेवानुध्यायन्त आचार्यपादा जनानां शुभमङ्गलमीहमाना स्वाशिषं प्रयुञ्जते – अयं ज्योत्स्नोत्सवः कौमुद्युत्सवापरपर्यायः श्री राष्ट्रजीवनपथं, श्रीसम्पन्न राष्ट्रस्य लक्षणाया तद्वासिजन वर्गस्य जीवनपथं धर्मादिचतुष्टय लाभोन्मुख जीवनमार्गं कमपि अधिकाधिकं वाञ्छितं प्रकाशं विनिर्गतान्तरायान्धकारं रचयेत् जनयेत्। अभिवाञ्छित सुखसमृद्धिमत् राष्ट्रं भवत्विति भावः। अत्र वृत्यनुप्रासः शब्दालङ्कारः। प्रकाशदाने ज्योत्स्नोत्सवस्य हेतुत्वात् पदार्थ हेतुकं काव्य लिङ्गमलङ्कारः। वसन्ततिलका च वृत्तम्। लक्षणमुक्तं प्राक्। अत्र सूक्तिपद्ये शशाङ्क मृगाङ्क पदयोरर्थ पौनरुक्तयेऽपि गूढ व्यञ्जनात्र बोध्या-जीवनं शशवदुत्प्लुत्य गच्छति तस्मान्मृगवद्वैषयिक सुख मार्गणं विहाय स्वाध्यायशीलाभवेयुरिति। स्वस्यात्मनोध्यायोध्ययनमित्यात्मानमेवानुसन्दध्युरिति।

भावार्थ– पूर्व सूक्तिपद्य के द्वारा श्रीआचार्यपाद ने विजयादशमी पर्व के शुभ अवसर पर राष्ट्रवासी जनों की सुख समृद्धि कामनापूर्त्यर्थ अपनी ओर से शुभाशंसा प्रदान की है। अब इस प्रकृत सूक्ति पद्य के द्वारा, आश्विन शु. पूर्णिमा तिथि में शरत्पूर्णिमोत्सव का आयोजन करने वाले भारतीय आस्तिक मानवों को अपनी ओर से शुभकामना प्रस्तुत की है, साथ ही स्वाध्यायशील द्विजाति समुदाय को वेदादि आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय करने की प्रेरणा भी दी है। वर्ष भर की पूर्णिमा तिथियों में उदित पूर्ण चन्द्र की अपेक्षा शरत्पूर्णिमा के चन्द्रदेव को अधिक महत्त्व प्राप्त है। शरत्पूर्णिमा की शरदिन्दु सुन्दरधवल रजनी में ही रासेश्वर श्रीकृष्ण तथा उनकी अभिन्नात्मरूपिणी रासेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्री राधाजी का अनेक सखियों के बीच महारासोत्सव समारम्भ हुआ था। नान्दीमुख पितरों का सन्तर्पण, कोजागरी व्रतादि धार्मिक कृत्यों के आयोजन से शरत्पूर्णिमा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। श्रीआचार्यपाद स्वाध्यायशील ब्राह्मणों को सम्बोधन देते हैं — हे स्वाध्यायी द्विजश्रेष्ठ महानुभावो! आप सभी जन **यावज्जीवमधीते विप्रः** इस श्रौतादेश का पालन करने वाले हैं। किन्तु शास्त्राज्ञाशरत्पूर्णिमा नवरात्र पक्ष के अन्तर्गत सरस्वती शयनोत्सव दिवसों में वेदादि सद्ग्रन्थों को स्थापित करके उनमें सरस्वती पूजा करते रहे। इस कारण विधान के अनुसार उन दिनों में वेदादि स्वाध्याय तथा लेखन वाचनादि कार्यों का विराम किया गया था।

अब ब्राह्मणों के राजा द्विजराज चन्द्रदेव शरत्पूर्णिमा तिथि में उदित होकर स्वाध्याय की प्रेरणा दे रहे हैं अतः स्वाध्यायशील ब्राह्मण जन स्वाध्याय आरम्भ कर दें। वेदाध्यायी छात्र समुदाय पौष मासीय वेदाध्यायनोत्सर्ग तिथि पर्यन्त वेदाध्ययन करें। वसन्त ग्रीष्म काल

में वेदाङ्गो का अध्ययन करें। प्रतिदिन वेद स्वाध्याय करने का विधान अनुशासन सूत्र द्वारा आदिष्ट है — **"स्वाध्यायोऽहरहरध्येतव्यः, स्वाध्यायान्मा प्रमदः।"** वेदाध्ययन द्विजाति समुदाय का परम धर्म है। सदाचारी, प्रमादरहित, शुद्ध निर्दोषान्न भोजी, सदा वेद स्वाध्यायशील ब्राह्मण को मृत्यु अपने वश में नहीं कर सकता। ऐसे अनेकों ब्राह्मणों के उपाख्यान पुराण साहित्य में समुपलब्ध हैं। इस पावन परम्परा के विपरीत आचरण करने वाले ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से गिर जाते हैं, तथा मृत्युलोक के सम्राट मृत्यु देवता के अधीन होकर भूयोभूयः जन्मजरामरणादि प्रद देहबन्धन प्राप्त करते रहते हैं — **अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्, आलस्यादन्दोषाच्च मृत्युर्विप्रान जिघांसति।** ब्राह्मणों का वेदादि स्वाध्याय ही परम तप कहा गया है— **"स्वाध्यायः परमं तपः।"** सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण शरीर धारण करने का यही प्रयोजन है कि स्वाध्यायरूप परम तप के द्वारा इसी जन्म में ब्राह्मण, अनन्त सुखधाम की प्राप्ति कर ले। लौकिक सुख भेगवासना तृप्ति, इसका प्रयोजन नहीं। **"ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते, कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च।"** इसीलिये कहा गया है — **षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च, एव ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः।** ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिये षडङ्ग वेद का अध्ययन तथा रहस्यबोध, दोनों ही आवश्यक तथा अनिवार्य हैं। वेदस्वाध्याय का प्रयोजन द्रव्योपार्जनादि क्षुद्र कामनापूर्ति नहीं है। वेद विक्रय पाप माना गया है। स्वाध्याय शब्द का अर्थ मुख्य वृत्ति से वेदाभ्यास ही होता है। तथा **या क्रिया अङ्गिनि सा तदङ्गेष्वपि** नियम के अनुसार वेदाङ्गो का अभ्यास भी स्वाध्याय शब्द का अर्थ है। अमुख्य वृत्ति से स्वाध्याय का अर्थ धर्मेतिहास, पुराणादि का पठन पाठन भी है। यही सब कुछ ध्यान में रखते हुए श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा द्विजों को स्वाध्याय के लिये प्रेरित किया है। सूक्तिपद्य के उत्तरार्ध में आचार्यश्री ने शुभाशंसा प्रदान की है।

यह ज्योत्स्नोत्सव (शरत्पूर्णिमा पर्व) लोक हित चिन्तक स्वाध्यायशील तपस्वी ब्राह्मणों को स्वच्छ प्रकाश प्रदान करे, जिससे वे स्व स्व धर्माचरण में प्रवृत्त करके अविद्यान्धकार निरासपूर्वक जनजागरण कार्य में तत्पर रहे। अथवा - कोजगारीव्रत विहित रात्रि जागरण के लिये यह शारदी ज्योत्सना रात्रिभर प्रकाश देती रहे। कोजागरी व्रत करने वाले स्त्री पुरुष शरत्पूर्णिमा की रात्रि में श्री लक्ष्मीनारायण-चन्द्र-इन्द्र-देवता पूजन पूर्वक नारिकेल जल पीकर पुराण कथा श्रवण तथा द्यूतक्रीडा से रात्रि जाकरण करते हैं। निशीथकाल में श्री लक्ष्मीजी सुधालिप्त सुसज्जित भवनों में प्रवेश कर उद्घोषित करती हैं — **कौन जागरण कर रहा है, जिसे मैं धन-धान्यादि प्रदान करूं।** जो मानव उस दिन रात्रि जागरण करता है वह वर्ष पर्यन्त सुख समृद्धि लाभ प्राप्त करता है। जो जागरण नहीं करता, वह वर्ष भर प्रमादालस्यादि दोषों से आक्रान्त रहता है। शरज्ज्योत्सना प्रकाश में स्त्री-पुरुष आपस में द्यूत-क्रीड़ा करते हैं, जिससे यह पता चलता है कि दोनों में से किस का भाग्य वर्ष भर ठीक रहेगा।

यद्यपि द्यूतक्रीडा को अनिष्टकर व्यसन माना गया है, तथापि व्रतोक्त विधान से केवल भाग्य परीक्षार्थ द्यूतक्रीडा शरत्पूर्णिमा, दीपावली तथा गोवर्द्धनोत्सव तिथि में विहित होने के कारण आवश्यक कर्तव्य ही है, व्यसन नहीं है। वसन्तारम्भ दिवस में श्वपचस्पर्श के समान विहित द्यूतक्रीडा व्यसन त्याज्य है। विधिलब्ध द्यूतक्रीडा को व्यसन मानना उचित नहीं होगा। विश्वसृष्टि तथा प्रलय भी उमा महेश्वर की द्यूतक्रीडा विनोद लीला ही है। उमा की जीत होने पर सृष्टि तथा महेश्वर की जीत होने पर प्रलय होता है। उमा के जीत जाने पर ही यह विश्व प्रपञ्च दृग्गोचर हो रहा है। यह प्रसङ्ग गोवर्धनोत्सव कथान्तर्गत द्यूताविर्भाव कथा में आया है। कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को द्यूताविर्भाव दिवस माना जाता है। इसी दिन साम्बसदाशिव की द्यूतक्रीडा विनोद लीला हुई थी। अतः वर्षभर सुख शान्ति विजय लाभ के लिये कोजागरी व्रत का शास्त्र में विधान है। सर्व वर्ण समुदाय लोकहित की दृष्टि से दैवप्रदत्त स्व स्व कर्मों का आचरण करते हुए शान्ति, सुख, समृद्धि द्वारा राष्ट्र को समुन्नत करते रहें, यही श्री आचार्यपाद का आशय है। **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः श्रुतिसिद्धसनातन धर्मानुरागी आस्तिकजन सम्प्रदायमान्य ईश्वरीय संविधान के अनुसार जातिकुल सम्प्रदायोचित स्व स्व कर्माचरण द्वारा ही ऐहिक तथा पारलौकिक सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं, कर्म साङ्कर्य से नहीं। प्रकृति विरुद्ध कर्मसङ्करता से जातिकुल धर्म विनाश द्वारा कुलविनाश, तथा पर्यवसान में नरक प्राप्ति निश्चित मानी गई है। सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।** जातिकुलानुरूप धर्माचरण प्रवृत्ति ईश्वर प्रदत्त होने से स्वाभाविक होती है। अस्वाभाविक कार्य कठिन होता है तथा अहितकर होता है — **यतः प्रवृत्ति र्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्, स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः, श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।**

दीनावनीय दयनीयदशा दिशाना-
-मालोचनाय कमनीयदृशं दिशन्ती।
श्रीपूजनाय निजराष्ट्र-समृद्धि-वृद्ध्यै
दीपावली दिशतु शाश्वतिकं प्रकाशम् ॥३२॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्येनाचार्यापादाः - समस्त देशवासिभ्यो ज्योतिःपर्व दीपावली सुख समृद्धिदा भूयादत्र न कोऽपि जनो दैन्य पराभूतोऽभावग्रस्तो भवेदिति शुभमाशंसन्ते —

दीनानां निर्धनानां जनानां, अवनीयानां साहाय्य दानादिना रक्षणीयानां, दयनीयानां दयाभाजनानां दशा स्थितिस्तां दिशन्ति बोधयन्तीति दिशो

हेतवस्तेषामालोचनाय तत्परिज्ञानपूर्वकमपाकरणाय कमनीयदृशं स्पृहणीय विवेकनेत्रं दिशन्ती ददाना, श्री समाराधन विमुखानामेवेदृशी दीनदशा भवति नान्येषामिति निर्दिशन्ती, दीपावली दीपमालिका पर्व तिथि: निजं राष्ट्रं भारतराष्ट्रं, तस्य समृद्धि वृद्ध्यै, सर्वत्रदैन्यदुर्दशा विलयपूर्वकं सर्व सुखसम्पदां समर्धनाय, तदर्थं श्रियाः लक्ष्म्याः पूजनाय, तद्दिने कमलोदरात् सुप्तोत्थिताया महालक्ष्म्या समर्चनाय चावसरं दिशन्ती, दीपावलि-लक्ष्मी-जागरण ज्योति:पर्व वेला, शाश्वतिकमनवच्छिन्नं प्रकाशं मनःप्रसादरूपं दिशतु ददातु। आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकेति रूपत्रयं बिभ्राणा भगवती महालक्ष्मीर्यत्र समाराध्यते तत्र यथाधिकारं जनकल्याणं सर्वदा दीपावली करोत्वित्याशयः अयमत्र विशेषः - श्रावण पञ्चम्यां कमलोदरे प्रसुप्ताया लक्ष्म्या जागरण दिवस एवेदं दीपावली पर्व, भारत राष्ट्रे सोल्लासं सोत्साहमभिनन्द्यते। तद्दिने दीपप्रकाशबहुलानि गृहाणि जनैः क्रियन्ते। सर्वदिक्षु दीप प्रकाशे एव लक्ष्मीः प्रबोधमेति प्रदोषादौ। यद्ग्रहे प्रंकाशं न सा पश्यति, न तद्गृहं प्रविशति, न च तत् स्वावासं विधत्ते। तत्रान्धकार बहुले प्रकाशरहिते गृहे वर्षपर्यन्तं दरिद्राया एव वासो भवति।

तस्मात् भारतीया द्विजातयो दीप प्रकाश बहुलं स्वगृहं विधाय सपर्यासम्भारैर्लक्ष्मीं प्रबोध्य दरिद्रां गृहात् निष्कासयन्ति - "ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयामीति मन्त्रेण। पत्युः पूर्वं पत्नीशयनादुत्तिष्ठतीति परम्परामनुरुन्धाना लक्ष्मीः प्रबोधिन्येकादश्यां विष्णु जागरणात् पूर्वं जागर्ति। सुवासिन्यस्तां लक्ष्मीं सुख- रात्रि पूजापूर्वकं मङ्गलगायनैः सह प्रबोधयन्ति। दरिद्राञ्च निशीथे सम्पूज्य शूर्पडिण्डिमघोषेण ग्रहान्निसारयन्ति। तद्दिने निशीथे महाकाल्याः प्रादुर्भावो जातस्तस्मात् शाक्तास्तां तदानीं समाराधयन्ति। अत्र केचित श्री रामविजयोपलक्षितं दीपावली समारोहं मन्यन्ते, तदसत्। शास्त्रविरुद्धत्वात्। अत्रानुप्रासः शब्दालङ्कारः। राष्ट्र समृद्धिवृद्धौ श्रीपूजनस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गम्। वसन्ततिलका च वृत्तम्।"

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने पूर्व सूक्तिपद्य के द्वारा शरत्पूर्णिमोत्सव पर्व पर समस्त देशवासियों को उनकी सुख समृद्धि लाभ के लिये अपनी ओर से शुभकामना प्रदान की है। अब इस प्रकृत सूक्तिपद्य से ज्योतिःपर्व दीपावली के शुभ अवसर पर समस्त प्राणियों के सर्वाभीष्ट लाभार्थ, अभाव हेतुक दैन्य निरासार्थ, शुभाशंसा प्रस्तुत की है —

यद्यपि भगवल्लीलानिकेतन मायामय जगत में सर्ववस्तुजात, पूर्णब्रह्मोद्भासित होने से पूर्ण ही हैं, न्यूनता का लेश भी नहीं है, तथापि जिसमें पद पद पर रत्नराशि बिछी है, तथा एक योजन के अन्तराल में एक अमृत वापिका स्थित है, ऐसी रत्नगर्भा वसुन्धरा का

दर्शन तक भाग्यहीन पुरुष को नहीं होता, तदुपयोग की तो चर्चा ही व्यर्थ है — **पदे पदे च रत्नानि योजने रसकूपिका, भाग्यहीना न पश्यन्ति रत्नगर्भां वसुन्धराम्।** अर्थप्राप्ति की दिशा में भाग्यहीन पुरुष के सभी विद्याबल पौरुष निरर्थक हो जाते हैं। दूसरी ओर भाग्यवान पुरुष की वैभव वृद्धि, अतर्कितोपनत आकस्मिक साधनों से भी निरन्तर होती ही रहती है, ऐसा प्रत्यक्षदृष्ट होता है। ऐसी स्थिति में सुभाग्यवान तथा दुर्भाग्यवान मानवों के वर्ग भेद में हेतु विचारणीय हो जाता है। विचारक जन कार्य को देखकर कारण का अनुमान कर लेते हैं, दुर्भाग्यशाली पुरुष के सभी उद्योग धन्धे विफल होते देखे गये हैं तथा भाग्यवान मानव के सफल। यहाँ विफलता, सफलता रूप दोनों ही कार्य प्रत्यक्षदृष्ट हैं, किन्तु अदृष्ट सुभाग्य-दुर्भाग्यरूप कारण दृष्टिगोचर नहीं होते। कारण के विना कोई कार्य नहीं होता। अतः अचाक्षुष कारण को ही अदृष्ट शब्द से कहा जाता है। यह अदृष्ट भी कार्यभेद से शुभ अदृष्ट तथा दुरदृष्ट नाम से व्यवहृत होता है। दृग्गोचर न होने के कारण केवल फलानुगम्य होने से विचारकों की विचारधारा में भेद पाया जाता है। अदृष्ट कारण को मानने वाले विचारक भाग्यवादी, तथा प्रत्यक्षदर्शीजन उद्योगवादी कहे जाते हैं। किन्तु सुविचार पर्यवसित-निर्धारण, भाग्यवाद के पक्ष में ही जाता है, **भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।** सुपरिणाम तथा दुष्परिणाम दोनों ही भाग्यायत्त होते हैं। बल, बुद्धि, विद्या, पौरुषादि से किया गया उद्योग केवल मात्र सहायक होने से सहकारी कारण हो सकता है, प्रमुख कारण नहीं। यदि उद्योग को अनिवार्य प्रमुख कारण मान लिया जाय तो उद्योग रहित अनभिवाञ्छित आकस्मिक हानि लाभ का कारण अनवेष्टव्य होगा। तथा सुभाग्य-दुर्भाग्य जन्य लाभहानि की केवल सूचना देने वाले सूर्यादि ग्रहों का सञ्चार विभाग अनावश्यक एवं अनुपयुक्त हो जायेगा।

अतः सुख-दुःख, हानि-लाभादि सब भाग्याधीन ही होते हैं। विद्या, बल, बुद्धि, पौरूषानुरूप किया गया उद्योग, केवल कदाचित् सहायक होने से सुख-दुःखादि कार्यों का सहकारी कारण हो सकता है। प्रमुण कारण भाग्य के अभाव में सहायक कारण उद्योग भी अकिंञ्चित्कर ही हो जाता है। अति शूर अति विद्वान् युधिष्ठिरादि पाँचों पुत्रों की दयनीय दशा देखकर भाग्य को ही सुख-दुःखादि का प्रमुख कारण मानने वाली परम विदुषी पाण्डुराज पत्नी महारानी कुन्ती देवी ने अपनी पुत्रवधुओं को भाग्यशाली पुत्र की प्राप्ति का शुभाशीर्वाद दिया था।

भाग्यवन्तं प्रसूयेथा मा शूरं मा च पण्डितम्।
शूराश्च कृतविद्याश्च वने सीदन्ति मे सुताः॥

अतः विचारकों के द्वारा विचारपूर्वक यह निश्चित किया गया है कि— सम्पत्ति विपत्ति की उपलब्धि में प्रमुख कारण माया ही है। तो फिर अब उत्तम भाग्य का निर्माण कैसे किया जाय? इस प्रश्न का सत्समाधान श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा सङ्केतित किया है। उत्तम भाग्य का निर्माण सर्वैश्वर्य सिद्धिदायिनी जगन माता श्रीमहालक्ष्मी

जी की भक्तिभाव पूर्ण सविधि उपासना से किया जा सकता है। श्रीआचार्यपाद ने उक्त भावगर्भित यह शुभाशंसन राष्ट्रवासी जनों को दिया है।

आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तीन रूप धारण करने वाली महालक्ष्मी का सविधि समर्चन, समर्चकों द्वारा जिस तिथि विशेष में किया जाता है, वह ज्योतिःपर्व दीपावली तिथि, सभी राष्ट्रवासी जन का यथायोग्य कल्याण करें। परमुखापेक्ष, दीन, दुर्बल, निर्धन जनों की अभावग्रस्त दयनीय दशा का कारण श्री समाराधन-वैमुख्य ही है, यह बोध कराने के लिये ज्ञानाञ्जन शलाका लगाकर विवेक नेत्रोद्घाटन कर देने वाली तथा कमलभवन में सुप्तोत्थित महालक्ष्मी के पूजन का अवसर देने वाली, ज्योतिःपर्व दीपावली, राष्ट्रवासी जनों की सुख-समृद्धि के लिये दुर्भाग्यान्धकार को दूर करने में सक्षम उत्तम भाग्य का समुज्ज्वल सुप्रकाश निरन्तर प्रसारित करती रहे। समयाभावादि के कारण प्रात्यहिक श्रीसमाराधन सम्भव न होने पर भी केवल दीपावली तिथि में ही सविधि सश्रद्ध समर्थन से अपने देशवासी मानव सुख-शान्ति-सम्पत्ति-संयोग प्राप्त कर लें।

दीपावलीपर्व पूजा के समबन्ध में अवश्य ज्ञातव्य शास्त्रीय विचार यहाँ प्रासङ्गिक है। कुछ हिन्दी पाठ्य पुस्तकों के अनुसार यह दीपावली पर्व श्रीराम विजयोल्लास-दीपमालिका के रूप में माना गया है, यह प्रमाणाभाव के कारण उचित नहीं है। दीपावली ज्योतिःपर्व अनादि परम्परा प्राप्त तथा शास्त्रविहित है। ऊर्ध्वलोकों की कालगणनानुसार मानवीय वर्ष का आधा भाग उत्तरायण काल देवलोक का एक दिवस माना गया है तथा दक्षिणायन भाग वहाँ रात्रिकाल होता है। दक्षिणायन कर्क की सङ्क्रान्ति में देवताओं का शयन काल होता है। अपनी अपनी निश्चित तिथियों में सभी देवगण शयन करते हैं तथा जागरण प्राप्त करते हैं। सभी की पृथक्-पृथक् शयनोत्थान तिथियाँ पुराणों में तथा ज्योतिष शास्त्र में निर्धारित है। आषाढ शु. देवशयनी एकादशी में भगवान विष्णु का शयन, तथा कार्तिक शुक्ल हरिप्रोबोधनी एकादशी में उनका जागरण होता है। इसी प्रकार आषाढ शुक्ला पूर्णिमा में देवाधिदेव शिव का शयन तथा कार्तिकी पूर्णिमा में जागरण। श्रावण कृष्ण पञ्चमी तिथि में श्रीलक्ष्मीजी का कमलोदरभवन में शयन, तथा कार्तिक कृष्ण अमावस्या दीपावली में उनका उत्थान होता है। यो यह दीपावली पर्व श्रीलक्ष्मीजी के प्रबोध दिवस के रूप मनाया जाता है। पति के जागरण से पूर्व ही पत्नी का जागरण शास्त्रविहित है, अतः इस आत्मानुशासन परम्परा से श्रीलक्ष्मीजी का प्रबोध काल हरिप्रबोधकाल से कुछ दिन पूर्व ही दीपावली में होता है। सुवासिनी स्त्रियाँ दीपप्रकाश-बहुल गृहाभ्यन्तर स्थान में सुखरात्रिव्रतपूजापूर्वक मङ्गल गायन के साथ श्रीलक्ष्मीजी का प्रबोधोत्सव मनाती है। निशीथ में शूर्प-डिण्डिम वाद्य के द्वारा गृह से दरिद्रा का निस्सारण करती हैं। भद्रारहित प्रदोषदिकाल में सर्वदिग्दीपप्रकाश में ही लक्ष्मीप्रबोधोत्सव का विधान है। प्रकाश रहित गृह में लक्ष्मी का प्रवेश नहीं होता, अतः वहाँ दरिद्रा की ही वर्षपर्यन्त स्थिति होती है। इसलिये दीपावली लक्ष्मीप्रबोध दिवस है। किसी पुराण की कथानुसार क्षीरसागर से लक्ष्मी

जी का प्रादुर्भाव दिवस भी है। यह दीपावली अनादि परम्पराप्राप्त लक्ष्मी समाराधन पर्व है, इसमें सन्देह का लेश भी नहीं - **अस जनि शङ्का करहु कोउ सुर अनादि जिय जानि** दीपावली के दिन निशीथ काल में भगवती मुण्डमालिनी महाकाली का प्रादुर्भाव भी शाक्ततन्त्रों में उल्लिखित है। अतः शाक्तजन दीपावली की महानिशा में महाकाली का समर्चन करते हैं। कन्यागत श्राद्धभोजी-पितृगण का भी विसर्जन आकाश दीपदान से किया जाता है। यों यह दीपावली पर्व अनादि परम्परा प्राप्त है।

वेदान्तशान्तमतयो यतयो वनान्ते
सेवन्त एव भगवन्तमनन्तवीर्यम् ।
हेमन्ततान्त मनसां गृहिणामथोऽद्य
हेमन्त हन्त भवितासि कृतोपकारः ॥३३ ॥

व्याख्या— **त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमुधरणिरात्मा त्वमिति चेत्येवं रूपेण सर्वत्र सन्तमेकमात्मानं प्रपश्यतां, यतीनां, शीतोष्णादि द्वन्द्व सहानां वनस्थानां भिन्न भिन्न प्रभाववानपि सर्वर्तु निकरो न मनागपि विक्रियां जनयति। किन्तु भेददर्शिनो गृहस्था रितुधर्मैः प्रभाविता भवन्ति, इति गृहिणामुपकर्तारं हेमन्तमृतुमभिनन्दन्त्याचार्यपादाः सूक्तिपद्येन।**

वनान्ते वनमध्ये, वेदान्तेन वेदानां चरमसिद्धान्तेन आत्मैकत्वावबोधरूपेण शान्ता तिरोहिता मतिर्नानात्वदर्शिनी बुद्धिर्येषां ते, तथाभूता-यतयो, यतात्मानः अनन्तमपरिच्छिन्नं वीर्यं शक्तिर्यस्य तं भगवन्तं सेवन्त एव, समत्वयोगेनैवेत्याशयः। उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति लक्षणलक्षितस्य भगवत एव अनन्त वीर्यत्वं नान्यस्येति। तत्सेवका अपि न क्वचित् शीतोष्णादिभिः पराभूयन्ते। अतस्तेषु हेमन्तस्य न कोऽप्युपकारोऽपकारो वेति, तेषु तद्वैयर्थ्यात्। किन्तु हे हेमन्त! अथो इति पक्षान्तरे। अद्य इदानीं त्वदागमन काले हेमन्ततान्त मनसां हिमार्तिम्लान मानसानां गृहिणां, भार्यासहायानां, न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृह मुच्यते, इति गृहपदवाच्याः स्त्रियस्ताः सन्ति येषां तेषां कृतोपकारः अनन्यसहायको भवितासि भविष्यसीति हन्तेति हर्ष-विस्मयादि बोधकमव्ययम्। सस्त्रीकेष्वेव जनेषु स्वकृतोपकारसाफल्य मनु भविष्यसीत्याशयः। अत्र अद्येति पदेन सह लुट आनर्थक्यात् च्युत संस्कृतित्वं न चिन्तनीयम्, हेमन्तस्य मासद्वयावधिक काल सत्त्वात् अनद्यतन भविष्यदर्थ बोधकत्वमेवात्र विभावनीयम्।

तथा चात्र "शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मकाले च शीतलेति लक्षणान्वित वर वर्णिनी कुचोष्मताप निवृत्त शैत्या गृहिणो मनस्यानन्दमनुभवन्तीति" तत्र हेमन्तस्योपकार कर्तृत्वमवसेयम्। "हेमन्ते बहुदोषाढ्ये द्वौगुणै सर्व सम्मतौ, अयत्नशीतलं वारि सुरतं स्वेदवर्जितम्", इति गृहिणामेवोपकारणकरणात हेमन्तस्याभिनन्दनीयत्वं, नान्येषां वटु वनस्थ यतीनामित्याचार्याः प्राहुः स्वसूक्ति पद्येन। अत्र "नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण" इति काव्यालङ्कार सूत्रे यास्कमुनिवचनात्, तथा एकस्यैव हेमन्तस्योपकारापकारकत्व कथनात् च, हेमन्त पदस्य द्विः प्रयोगो चिन्त्यः तत्र, शीतार्तितान्तमनसामिति पाठो युक्तः। अथवा - हेमन्तस्य शीतार्तिदान- तन्निराकरण रूपयोर्निग्रहानुग्रहयोरस्ति समान सामर्थ्यमित्यभिप्रायः स्यादाचार्यपादानमिति। तत्र गृहिणामिति साभिप्रायः विशेषेणदानात्परिकरालङ्कारो हेमन्तस्य चोपकार करणे हेतुत्वा काव्यलिङ्गम् वसन्ततिलका च वृत्तम। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रादि नाना नामरूपों से एक अद्वितीय आत्म तत्त्व ही सदा सर्वत्र भासमान है, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है — ऐसी दृढ़ धारणा से ज्ञान विज्ञान पारङ्गत, नश्वर देहादि के अध्यास से रहित, यतिजन, शीतोष्णादि द्वन्द्वों को स्वस्वरूपानतिरिक्त समझ कर सहन कर लेते हैं। भिन्न-भिन्न प्रभावातिशय युक्त वसन्तादि ऋतु समुदाय उन्हें प्रभावित नहीं कर पाता। शीतकाल हो या घर्मकाल दोनों में ही सिद्ध यतिजन स्वभावतः निर्विकार बने रहते हैं। मानवों का तो परम उपकारक ही है। इस विचार से श्री आचार्यपाद ने परोपकार पुण्यव्रती हेमन्त ऋतु का स्वागताभिनन्दन प्रकृत सूक्ति पद्य के द्वारा किया है —

हे हेमन्त! सघनवनैक देश में एकान्तवास करने वाले, वेदों के अन्तिम सिद्धान्त आत्मैकत्वबोध के द्वारा नानात्व दर्शन भेद दृष्टि से रहित संयतात्मा सन्त यतिजन, सदा समत्व योग से अनन्त शक्तिधाम भगवान की सेवा में लगे रहते हैं। उन पर तुम्हारे द्वारा किये गये उपकार या अपकार का कोई भी प्रभाव भले ही न हो, क्योंकि ये यतिजन अनन्त शक्तिशाली भगवान के अनन्य सेवक होने के कारण आगमापायी शीतोष्णादि द्वन्द्व समूह से कभी पराभूत नहीं होते। तो भी हे हेमन्तकाल! संसारी सस्त्रीक मानवों के तो तुम परम सहायक अवश्य होंगे ही। अतः गृहीजनों के उपकारक होने के कारण तुम अभिनन्दनीय भी हो। वटु वनस्थ यति सम्प्रदाय तुम से उदासीन रहे तो रहा करे, इससे तुम्हारा महत्त्व नहीं घटता। तुम्हारा निग्रहानुग्रहोभय सामर्थ्य, लोकमान्य होने से परम स्तुत्य एवं स्पृहणीय ही है। अरण्यसेवन के अधिकारी होते हुए भी अस्त्रीक पुरुष जो गृहिणी रहित गृह में निवास करते हैं, वे दण्डनीय हैं। अतः उन्हें शीतभीति देकर दण्डित करना तुम्हारा निग्रह है। तथा जो गृही पुरुष, मृदुल कुसुमित लतोपमा, निरस्त पिक स्वरमाधुरीधुरीणा, शरदिन्दु सुन्दरमुखी, रदांशुजित चन्द्रिका,

चञ्चच्चञ्चरीक कमल लोललोचना, सुस्मित वदनारविन्दा, कलहंसगमना, ललाम ललना से आवासित गृह में सानन्द निवास करते हैं, मनोज महाराज के उन आज्ञापालक गृही जनों पर शीत भीति निवारक कमनीय कामिनी कुचोष्मताप उपहृत करके परम अनुग्रह करते हो।

निवृत्तराग होने से समस्त वस्तुसक्तिशून्य, समत्वयोगी पुरुष वनस्थ हो या गृहस्थ स्वभावतः शीतोष्णादि द्वन्द्व से आक्रान्त नहीं होते। निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्। देहाध्यास रहित अद्वयतत्त्वावस्थित पुरुष नियतिवशात् गृही होकर भी मायिक दृश्यप्रपञ्च राग से अनभिभूत चित्त होकर समत्व योगधारणा द्वारा निर्विकार ही बना रहता है। किन्तु विषयानुरागी, गृहीजन असद्वस्तुकृत सापेक्ष सुख-दुःखादि का अनुभव करता रहता है। उक्त विचार से हेमन्तकाल का निग्रहानुग्रह सामर्थ्य लोकमान्य ही है।

जगति वरकलानां धीविकासोज्ज्वलानां
महति जनि मितानामन्ववाये कवीनाम्।
सुकृतिपदमवाप्तुं भावयन् भाललिप्तां
नमति चरणधूलिं श्रीगुरूणां सुतोऽयम् ॥३४॥

व्याख्या— भारतीयार्य वैदिक संस्कृतौ - अनादि गुरुशिष्य परम्परायां सर्वादिगुरुः परमेश्वर एव, "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" इति योगसूत्र प्रामाण्यात्, स एवाद्यावधि सर्वत्रामर्त्योऽपि मर्त्यलोके नाना गुरुरूपेण विद्यावितरणाय पौरुषीं तनुं धत्ते, अतस्त - "ममर्त्यबुद्ध्या सेवेतेतिमनुशामास्थाय गुरुकुलेषु शिष्या वेदादिविद्यामधीयते।" श्री गुरुचरण सरोजरजोभिर्निजमनोमुकुर कालुष्यं निरस्य नृदेह प्रयोजनीभूतं पुरुषार्थ चतुष्टयं श्री गुरुकृपयैव ते लभन्ते। अतः कमपि दृग्गोचरीभूतं सत्सुतं श्रीगुरुचरणधूलिं मस्तके धृत्वा वन्दमानं स्वसूक्तिपद्येनाचार्यपादाः स्मारयन्ति—

अयमेष सुतः, सुतत्व धर्मावच्छिन्नः कश्चित्। स एव सुत पद वाच्यो भवति, यो विद्वज्जन संसदि प्रशंसापात्रम् - "गुणिगण गणनारम्भे पतति न कठिनी ससम्भ्रमा यस्य" तेनाम्वा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवतीति, तद्विपरीतस्तु मातुर्यौवनापहार्येव। इदमेवाकूतमाचार्यपादानां सुतपदेन प्रतीयते। अथवा — "वंशे द्विधा विद्यया जन्मना चेति शास्त्रोक्त्या उपनयनान्तरं द्विजत्वमाप्य वटुरपि गुरोः सुत एव", "माता त्वस्य सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते।" इति मनूक्त् वचनात्। तथा च - "यथा पुत्रस्तथा शिष्यः को भेदः पुत्र शिष्ययोः। पुत्तस्त्राता भवेत्पुत्रः

शिष्यः शिष्टस्यपूरणात्।" इति वचनाच्च गुरुणोपनीतः शिष्योपि तत्सुत एवेति। अथ द्विजत्वमाप्तुं विद्या मध्येतुञ्च श्री गुरुचरण शरणमायातः कश्चित्, यद्वा - सावित्रीदानावसरे पादोपसङ्ग्रहं श्री गुरोः कुर्वाणः कश्चित् सुत, आचार्याणां दृष्टिपथमायातः सम्भाव्यते। यद्वा आचार्यपादैः स्वगुरु पूजनावसरे श्रीगुरुचरण नमनकर्तृत्वमात्मन्याधाय प्रणति पद्यमेतदर्पितं स्यादित्यपि सम्भाव्यते मात्रं न तु निश्चीयते प्रकरणानवगमात्। यदस्तु तदस्तु व्याख्यायते। जगति संसारे वरा श्रेष्ठा कला शास्त्रीय बोध वैचक्षण्यं येषु तेषाम्, धियो विकासेन, प्रतिभोदयेन उज्ज्वलाः संशयरहित बोधभासुरास्तेषाम्, महति विद्या विनय सम्पन्नत्वादतिप्रशस्ते, कवीनां शास्त्रविदां, विविध चमत्कृतं रचनाकाराणां वा अन्ववाये, कुले जनिमितानां लब्ध जन्मनां श्रीगुरुणां - शिष्यान्तःशरीरावस्थिताज्ञानान्धतमस निरासपूर्वकं सच्छास्त्रोपदेशकर्तृणामित्यर्थः। गॄः निगरणे गृ शब्दे इति धातुद्वय निष्पन्नगुरु पदार्थानुगमात्। चरणधूलिं श्री गुरुपाद पद्म पराग भाललिप्ता भावयन्, श्रद्धया मस्तके दधानः, सुकृतिपदम्, सुकृतां श्रीगुरु समाराधनजन्यं पुण्यं, तदधिकारित्वमवाप्तुं लब्धुं, यद्वा — शोभना कृतिः शब्दार्थ सौष्ठवोपेत काव्यरचना, सा यस्यास्तीति सुकृतिस्तत्पदमवाप्तुमात्मनः कवित्वलाभाय, नमति प्रणमति, श्रीगुरुचरणरजः प्रणामो दुर्दृष्टनाशकः। भाललिप्ता च तच्चरण धूलिर्मात्लिखित दुरक्षर विनाशिनी भवति, कवीनामपि परम्पराजनकः सर्वादिः परमात्मैवास्ति, तत एवाविच्छिन्न परम्परया विद्यमानं कविकुलं सर्वत्रादर पात्रम्। "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।" जगत्प्रपञ्च रूपमिति "कविं पुराणमनुशासितारमित्यादि" श्रौतस्मार्त वचनं प्रामाण्यात्। सर्व शास्त्रज्ञतायाः कवित्वे पर्यवसानम्। "न सा विद्या न तच्छास्त्रं न तत शिल्पं न सा कला" जायते यन्न काव्याङ्ग महोभारो महान कवेरिति शास्त्रज्ञानपूर्वकं सुकवित्व लाभायः श्रीगुरुचरणद्वन्द्व वन्दनमावश्यकमपरिहार्यञ्चेत्युपादिशन् जनानाचार्यपादा इत्यलम्। अत्र सुकृति पदप्राप्त्यै श्रीगुरुचरण धूलि वन्दनाया हेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः। सुतपदस्य च साभिप्रायत्व कथनात्परिकरश्च। मालिनीवृत्तम् — न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैरिति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— देव निकर गीतकीर्ति पुण्यभूमि भारत देश में अनादिकाल से अद्यावधि आस्तिक सम्प्रदाय में गुरुशिष्य परम्परा अनादि अनन्त परमेश्वर से ही आरम्भ हुई है। "स पूर्वेषामपि गुरु—" योगसूत्रानुसार, "यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रणिहोति तस्मै"— श्रुति के अनुसार, "तेने ब्रह्म हृदाय आदिकवये—" भा. महापुराणानुसार परमेश्वर ही सर्वादि

गुरु पदासीन है। चराचर गुरु भगवान परमेश्वर अपने अनादि गुरुपरम्परा संरक्षण के लिये ही निराकार से साकार, निर्गुण से सगुण, अमर्त्य से मर्त्यधर्मा होकर मर्त्यलोक में सर्वत्र विद्यावितरण के लिये अनेकों वेद्वेदाङ्ग पारदर्शी गुरु रूपों से ब्रह्मकुल में प्रादुर्भूत होते हैं। सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म की प्राप्ति का अनन्य साधन रूप पुरुष शरीर भगवान को अतिप्रिय है। **"तस्मान्मे पौरुषी प्रिया"**। गुरुकुल में रहकर अनेकों शिष्यगण मर्त्य शरीरधारी गुरु रूप परमेश्वर की चरण सेवा अमर्त्य बुद्धि से करते हैं। तथा गुरु के निदेश वशवर्ती होकर वेदादि विद्याध्ययन करते हैं। श्रीगुरुचरण सरोज रज से अपने मन मुकुर का कालुष्य मिटाकर श्रीगुरुदेव की परमकृपा से धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति कर मानव जीवन को सफल करते हैं। श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य में ऐसे ही किसी धन्यजीवन गुरुभक्त अन्तेवासी का स्मरण किया है कि जो श्रीगुरुचरणधूलि को मस्तकन्यस्त करके सश्रद्ध वन्दनापरायण है अथवा स्वयं श्री आचार्यपाद ने भक्ति भावोद्रेक से निज गुरुपाद पद्मराग को मस्तक पर धारण कर अपनी ओर से प्रणति पद्य पुष्पाञ्जलि अर्पित की है – यह कोई सुत (पुत्र या शिष्य) पुण्यात्माओं के पद की प्राप्तिं के लिये समस्त शास्त्रार्थ ज्ञान कला निपुण उत्तमोत्तम प्रतिभा सम्पन्न विद्याविनय सम्पन्न शास्त्रवेत्ता पुरुषों के प्रख्यात कुल में जन्म ग्रहण करने वाले श्रीगुरुदेव की चरण धूलि को मस्तक पर लगा कर प्रणति अर्पित कर रहा है।

धर्मशास्त्रोदित वचनानुसार – श्रीगुरुचरण रजः प्रणति से शिष्य का समस्त दुरित क्षय हो जाता है। श्री आचार्यपाद ने सूक्तिपद्य में सुतकर्तृक नमन की बात कही है, गुरुचरणों में शिष्यकर्तृक नमन की नहीं। इसका आशय यह है कि वंश दो प्रकार का होता है— जन्मवंश और विद्यावंश ! जन्मवंश में उत्पन्न पिता का पुत्र ही विद्यावंश में उत्पन्न होकर गुरु (आचार्य) का पुत्र माना गया है। गुरुकुलवासी छात्र के पिता आचार्य तथा माता देवी सावित्री ही है। आचार्य से उपनीत वेदाध्यायी छात्र विद्यावंश में द्वितीय जन्म होने से ही द्विजसंज्ञा में आ जाता है। अतः श्रीगुरुचरणों में नमन कर्ता शिष्य भी गुरु का सुत ही है। बहु वचनान्त गुरुपद प्रयोग का आशय यह है – माता, पिता तथा उपनेता आचार्य, ये तीनों ही समान गुरुपद वाच्य होते हैं। सुत या शिष्य के अज्ञानान्धकार को दूर करके सच्छास्त्रोपदेश द्वारा सन्मार्ग गति प्रदान करने वाले को गुरु कहा जाता है। उक्त तीनों ही गुरुजन हितकर शिक्षा प्रदान करते ही हैं, अतः बहुवचनान्त गुरुपद से माता, पिता तथा आचार्य का बोध होता है। आस्तिक सम्प्रदाय में मानव जीवन गुरुत्रयी की सेवा के लिये ही मिला है। माता, पिता तथा शास्त्रोपदेष्टा सद्गुरु की आजीवन सेवा पूजा करने से ही मानव जीवन सार्थक हो जाता है। मानव धर्मशास्त्र वचनानुसार गुरु सेवाव्रती मानव, जन्म जन्मान्तरोपार्जित समस्त पापनाश पूर्वक संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। उक्त गुरुत्रयी की सेवा पूजा से ही अग्निहोत्रादि समस्त यज्ञों का भूमण्डलगत समस्त तीर्थों का, समस्त व्रतपर्व देवताराधन का पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है। सम्पूर्ण व्रतों में उत्तम गुरुसेवा व्रत का पालन करने वाले को पुण्यप्राप्ति के लिये कोई भी अन्य धार्मिक

अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं रहती यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यत् समाचरेत् गुरुत्रयी के सेवाव्रत को त्यागकर जो मानव पुण्योत्पादनार्थ अन्य धार्मिक कृत्य सम्पादन करता है, उसके वे सब धार्मिक अनुष्ठान विफल हो जाते हैं। भारतीय प्रशस्त मानव जीवन में अवश्य पालनीय वृत (सदाचार) में गुरुपूजा का प्रमुख स्थान है। वृत्तभङ्ग करके वित्तोपार्जन करना निषिद्ध है। वित्त तो आगमापायी होने से आता जाता ही रहता है, किन्तु यदि वृत्त नष्ट हो जाय तो फिर नहीं लौटता, प्रत्युत वृत्त विनाशक का ही नाश कर देता है। लौकिक पारलौकिक श्रेय विनष्ट हो जाता है। वृत्त का लक्षण इस प्रकार शास्त्रोक्त है — **गुरुपूजा दयाशौचं सत्यमिन्द्रिय निग्रहः प्रवर्तन हितानाञ्च वृत्तमित्यमिधीयते** माता, पिता तथा आचार्य की सेवा, दीन-दुर्बल-अकिञ्चनों पर दया, बाह्याभ्यान्तर शुचिता, सत्याचरण, इन्द्रिय संयम, लोक हितकर कर्म में स्वयं प्रवृत्त होना, तथा अन्यों को प्रेरित करना वृत्त कहा जाता है। श्रीआचार्यपाद ने गुरु सेवा का सर्वातिशायी महत्त्व सूक्तिपद्य से अभिव्यक्त किया है। गुरुत्रयी के सन्तुष्ट होने से सर्व सिद्धिप्रद तपोनुष्ठान पूर्ण हो जाता है। मानवधर्मे - **तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा, तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते, इति।**

कलितकलिकलानां कल्पिताङ्कं खलानां
कलयत कविलोकाः कौतुकं कीदृगेतत्।
कविकुलकलिताभिः कीर्तनीयां कलाभिः
कटु कथयति काकः काकलीं कोकिलानाम्॥३५॥

व्याख्या— "गुणेषु दोषान् पश्यन्ति परेषां सततं खलाः जलौका गोस्तनाश्लिष्टा रक्तं पिबति नो पयः" इतिवत् गुणे खल भयमिति साधु मन्वाना आचार्यप्रवरा गुणिखलयोर्मिथो विरुद्धस्वभाव पारवश्य मनेन सूक्तिपद्येन निर्दिशन्ति—

हे कविलोकाः! सदभ्यस्तकाव्यशास्त्रीय प्रातिभज्ञानवन्तो रचनाकाराः कलिता गृहीताः कलिकलाः, कलियुगानुरूप रागद्वेषानुरूपाः यैस्ते तेषां खलानां, गुणान् विहाय दोषग्राहिणां गुणानपि दोषरूपेण पश्यतां वा, एतत कीदृक् साधुजन गर्हितं कल्पिताङ्कं, स्वमनः कल्पित दुर्निवार दुःस्वभावानुरूपं गुणेषु दोषदर्शनौत्सुक्यं कलयत निभालयत, काकः धूर्त पक्षी वायसः, कविकुल कलिताभिः, कवीनां रससिद्ध प्रातिभज्ञान सम्पन्न रचनाकाराणां कुलं समाज स्तेन कलिताभि रादत्ताभिः कलाभिः शब्दार्थसौष्ठवोपेत सरस रचना नैपुणीभिःकीर्तनीयां प्रशंसनीयां

कोकिलानां पिकानां काकलीं हृदयावर्जकसुमधुर कण्ठध्वनिं कटु कर्ण कर्कशमश्रव्यं कथयति वदति, तदपेक्षया स्ववाचं गर्हणीयामपि साधुमन्यते, स न जानाति यद्वर्णसाम्येऽपि काकपिकयोर्वाग्व्यापारे महदन्तरम् तत् तु काव्य रचनाकारा एव विदन्ति, "काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः" इति। एवं महाकवि सूक्तिवैचित्र्यं सहृदया एव श्लाघन्ते, न तु काष्ठकुड्याश्मसन्निभा असहृदया इत्याशयः, अत्र काव्य कलाधराः खलाश्च क्रमेण पिककाक सभा इति तयोः समत्व वर्णनात् समालङ्कारः काकपिकयोवाग्व्यापार विरोधाद्विषमालङ्कारश्च। वर्णानुप्रासः शब्दालङ्कारोऽपि, अथवा – प्रकृतिं यान्ति भूतानि, स्वभावो दुरतिक्रम इति समेऽपि मानुष्यके सद्गुणशालिनां खलानां च, तथा समेऽपि वर्ण पक्षित्वादिके पिकानां काकानाञ्च स्वाभाविको भेदो दुर्निवार एव, तेषां तादृश प्रकृतिकत्वात्, यथोक्तं नैषधीयपद्ये - क्रमेलकं निन्दति कोऽलेच्छुः क्रमेलकः कण्टक-लम्पटस्तम्। प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थमिति तत्तत् स्वभावोक्त्या तेषां भेदमनिवार्यमिति कविलोका निभालयतेत्याचार्याणामाशयः, स्यात्। अत्रमालिनी वृत्तम्। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— खल प्रकृति पुरुषों का यह दुःस्वभाव है कि वे सदैव परगुणों में दोष दर्शन करते रहते हैं। परगुणाप्राशस्त्य उन्हें सहन नहीं होता। अपनी अपरिहार्य दुष्प्रकृति के वशीभूत होने के कारण खलजनों को विज्ञजन के सुश्लाघ्य सद्गुण भी अवगुण रूप में ही दिखाई देते हैं। **अवगुन को नित गहत हैं, गुन न गहत खल लोक, पियै रुधिर पय ना पियै, लगी पयोधर जौंक।** कविवर बाणभट्ट के विचारानुसार कटुभाषी, मलिन मनोवृत्ति, खलजन, सत्पुरुषों को मानस-व्यथाप्रद ही होते हैं तथा सत्पुरुष अपने सुमधुर भाषण एवं काव्य सुधारस पेय समर्पण के द्वारा विज्ञ सहृदयों के अन्तर्मानस को आनन्दित कर देते हैं। इस प्रकार गुणी पुरुष और खल पुरुषों में प्रकाश-अन्धकार, सुधा-गरल के समान वैषम्य लोकदृष्ट है।

श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा कविजनों को सम्बोधित करके सद्गुण सम्पन्न काव्यकला प्रवीण विद्वज्जन तथा दोषपङ्कपात चतुर मण्डूक सदृश खलजनों का मिथोविरुद्ध स्वभाव अवगत कराने के लिये काक-पिक वाग्व्यवहार भेद निदर्शन प्रस्तुत किया है। हे विद्वत्तल्लज महानुभाव! सदभ्यस्त काव्यशास्त्रीय प्रातिभज्ञानसम्पन्न, काव्यरचनाकुशल, सद्गुणशाली सत्पुरुष वृन्द! खल पुरुषों की मनगढन्त दुर्निवार, दुःस्वभावानुरूप, परगुणों में दोषदर्शन प्रवृत्ति को भलीभंति जान लेने का प्रयास करो! गुणिगणनिकर को यदि कोई भय

है, तो केवल खलजनों से ही है। कलियुगानुरूप रागद्वेषाभिनिवेश वशीभूत खलजनों की परगुणों में दोषदर्शन दुष्प्रकृति अपरिहार्य होती है। साधुजनगर्हणीय दोषों को ही सदा ग्रहण करने में वे सक्रिय रहते हैं। लोक निन्दनीय धूर्त पक्षी काक भी कविजन समादृत काव्यकला के माध्यम से प्रशंसनीय, श्रवण सुधारस वर्षिणी सुमधुर कोकिल काकली को कटु (अश्रव्य) ही मानता है। अपनी कर्णकर्कश स्वरमयी वाणी को श्रवण सुखद सुरुचिर वाग्विलास समझता है। देह गत वर्णभेद न होने पर काक और कोकिल में वागुच्चारणकृत अत्यन्त भेद परिलक्षित होता है। काव्यकला निपुण रचनाकार, वसन्त ऋतु के वर्णन में पिकस्वर श्रुति का अत्यादर से उल्लेख करते हैं। यदि वे ऐसा न करेंगे तो वसन्त सुषमा, प्रमुख अङ्गहीन हो जायेगी।

ऋतुराज के स्वागताभिनन्दन समारोह में प्रकृति नटी की सङ्गीत शाला में सङ्गीत सम्मेलन का आयोजन, पर्यटक जनों के मन को मोह लेता है। मृदुल लता-ललना प्रदत्त कुसुम-चषक मधुपानमत्त भृङ्गावलि का सुमधुरध्वनि वीणावादन, तथा शीतल मन्द सुगन्ध समीर समीरित, यौवनोन्मत्त लता नर्तकियों का मनोरम लास्य, उन्मद पारावत समुदाय का गुटर गूं मृदङ्गवादन, सहकार किसलय प्राश सेवन से अति सुमधुर कण्ठरवा पिकावली का ताल लयानुबद्ध लतालास्यानुरूप पञ्चम स्वर में स्वागतगान, ये सब मिल कर वन पर्यटक समूह का मन हरण कर लेते हैं। वाद्यध्वनि वे साथ यदि गायिका अपना सहृदय हृदयावर्जक सुमधुर गान प्रस्तुत न करे, तो सङ्गीत सम्मेलन की पूर्ण सफलता सम्भव न होगी। वसन्त साम्राज्यलक्ष्मी लीलाविलास भवन की अनुपम गायिका कोकिला के श्रवण सुखद आलाप के द्वारा स्वरसमाधि का आनन्द लेने वाले सहृदय रचनाकार कभी भी उसे विस्मृत नहीं कर सकते, उस मनोरम कोकिल काकली को यदि अविदग्ध काक कुल, नासमझी से कर्णकटु कह दे, तो कहा करे। इससे लोक संवादी सत्य का अपलाप नहीं हो सकता। प्रत्युत् काक की ही अनभिज्ञता प्रकट होती है। इस सूक्तिपद्य से श्रीआचार्यपाद का सङ्केत उन अरसिक ज्ञानलवदुर्विदग्ध पुरुषों की ओर जाता है कि जो किसी काव्य कलाधर कवि महोदय की शब्दार्थ सौष्ठवोपेत प्रातिभ चमत्कारपूर्ण काव्यरचना को दुश्रवत्वादि दोषदूषित बताते हैं, तथा अपनी सामान्य तुकबन्दी एवं अस्तव्यस्त वाक्यविन्यास की भूरि भूरि प्रशंसा करते रहते हैं। अतः अरसिक ज्ञानलवदुर्विदग्ध जन समाज की ऊषर भूमि में, रससिद्ध सुकवि पयोद, कदापि श्रवणपुट पेय काव्य सुधारस की वर्षा करने को उद्यत नहीं होते।

सरल सरलान् पारं यातुं जनास्तरणिं श्रितां
स्तरल लहरैः सिन्धोर्मध्ये सुधीवर एव तान्।
प्रथितविनयो विस्रब्धोऽसौ निमज्जयते यदा
जगति लभतां को वाऽकीर्तिं वदन्तु बुधास्तदा ॥३६॥

व्याख्या— उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः, स च स्वयं नश्यति परानपि नाशयतीति बोधयितुमथवा - न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाति विश्वसेदित्य विमृश्य कृत विश्वासा जनाः पराभूयन्ते, यद्वा - मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्दुरात्मनामिति तेषा मनाविष्कृत विक्रियाणां दौरात्म्यमविभाव्य सरलमतयो जना विपद्यन्ते, इत्यवगमयितुमाचार्यपादाः सूक्तिपद्यमभिदधते, यदा यर्हि प्रथितः प्रख्यातो विनयः स्वकर्म कौशलं साधु स्वभावश्च यस्य सः, विस्त्रब्धः विश्वासपात्रमसौ एष सुधीवरः कुशल कैवर्तः, श्लेषेण शोभना धीर्येषां तेषुवरः श्रेष्ठः, तथात्वात् विश्वासार्ह एव सः, सरल सरलान् भृशमृजुमतीन नद्याः परं पारं यातुं गन्तुं तरणिं नावं श्रितान तत्रोपविष्टान् यात्रिणो जनान् तरल लहरेः, चपल वृहत्तर तरङ्ग वत्याः सिन्धोर्नद्यामध्ये, यद्वा - अकस्मादुत्थित तुमुल तरङ्ग समुद्रस्य मध्ये निमज्जयते ब्रोडयति जीवित जल समाधिं ददाति, तदा तर्हि को वा, वेति विकल्पे, जगति संसारे जन संसदि अकीर्तिमपयशो निन्दां वा लभताम्। तदनन्यशरणान् शरण्यः प्रतारयेत्तदा को भवेदकीर्ति भागिति बुधा विवेक दृशो वदन्तु निर्धारयन्तु। अत्र चतुरः कैवर्तो दोषी, यद्वा नौकाया अतिभारोद्वहन सामर्थ्याभावः, दैवकृतं तरणि ब्रुडनं वा, यात्रिणामायुषोऽवसानं वा, हेतुरित्यत्र निमित्तमनुसन्धेयं बुधैरित्याचार्याणामाशयः प्रतीयते।

अत्र तरणिनिमज्जन कार्ये मुण्डे मुण्डे मतेर्भिन्नत्वात् लोकदृष्ट हेतुषु मतैक्यं भवतुमा वा, परं पारमार्थिकं समाधानं त्विदमेव - अदृष्टचेष्टितमचिन्त्यमेव, तस्यापरिहार्यत्वादवश्यं भावित्वाच्च। तथोक्तम् - न हि भवति यन्न भाव्यं भवति हि भाव्यं विनापि यत्नेन। करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति। "यद् भावि तद्भवत्येव यदभावि न तद्भवेत्।" इति निश्चित बुद्धीनां न चिन्ता जायते क्वचित् इति। कार्य विनाशे तद्धेतुचिन्तनं प्रतिबिम्बताडनवद् व्यर्थमेव। प्रातिकूल्यमानुकूल्यं द्वयमिदं कालाधीनमेवेति श्रीरामो लक्ष्मणमाह - "पश्य लक्ष्मण ! कालस्य प्रतिकूलानुकूलताम्। वनवासे पिता हेतुः समुद्रतरणे शिलाः ॥" इति अथ च - श्रुतीनां स्मृतीनाञ्च मिथो भेददर्शनात् दार्शनिकाञ्च मतैक्याभावात् भ्रान्तबुद्धीन् तत्वं जिज्ञासभानान् जनान् ज्ञान-विज्ञान करण एव गुरुरसन्दिग्ध तत्व प्रतिपत्तिं कारयितु मर्हतिनान्यः। गतानुगतिकन्यायेन स्व-सम्प्रदाय पक्षपातिनस्तु धीवरास्तामृजुमतीन परमार्थतो भ्रंशायित्वा तेषां नरजन्म वृथा यापयन्ति, तत्र कोऽकीर्तिलभतां गुरुः शिष्यो वेति विचारयन्तु। तस्मात् शास्त्राण्यधीत्य तत्वज्ञ

गुरुचरणतरणिमाश्रित्य हृद्गुहास्थ सूक्ष्म बुद्धिवेद्य तत्त्व प्रतिपत्तिमनुभूय परप्रत्ययनेय बुद्धित्वं विहाय परम शान्ति लाभः कार्यः। "विज्ञानेनैनमाप्नुयादित्यनुशासनात्", इत्यलम्। अत्र न कर्तुः क्रियाफलावाप्तिः प्रत्युतानर्थापाताद्विषमालंङ्कारोऽत्र। अन्योक्तिर्वा। हरिणीवृत्तम्। रस युगहयैन्सौं म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा, इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— रागद्वेषादि विहीन संयतात्मा साधक के लिये निवृत्ति मार्ग सरल, सत्य तथा भय रहित होता है, ऐसा विवेचकों ने स्वीकार किया है। इसके विपरीत प्रवृत्तिमार्ग, रागद्वेष, कामक्रोध, लोभमोहादि आक्रामक तस्करों से आक्रान्त रहने के कारण दुर्गम, भयप्रद, तथा छलकपट पूर्ण होने से निरापद नहीं होता। अतः दुस्तर संसार सिन्धु के यात्री को प्रतिक्षण सावधान रहना अत्यावश्यक होता है। यद्यपि दोनों ही मार्गों में सावधान रहने का आदेश धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में उल्लिखित है, तथापि प्रवृत्ति पथ के पथिक को कामक्रोधादि मार्ग लुण्टाकों से अधिक सावधान रहने की आवश्यकता इसलिये होती है कि मार्गावरोधक कामादि का साम्मुख्य पद पद पर किसी न किसी रूप से बना ही रहता है। इस मार्ग में प्रमादी (असावधान) पुरुष के द्वारा अभीष्ट प्राप्त्यर्थ किया गया सदुपाय भी कभी कभी विफल तथा अनिष्टकर सिद्ध हो जाता है। इसलिये सावधान पुरुष सदैव **"उपायं चिन्तयेत् प्राज्ञस्तथापायञ्च चिन्तयेत्"** समीहितार्थ सिद्ध्यर्थ उपाय की साधुता का तो ध्यान रखना ही चाहिये, इससे भी अधिक उन कार्य विनाशक उपायों का चिन्तन कर लेना अति हितकर होता है कि जो अतर्कितोपनत होकर कार्यविपत्तिजनक हो जाते हैं, इस नीति शास्त्रोपदेश का स्मरण रखते हैं। अधिकांश देखा गया है कि दम्भी, पाखण्डी, छलछद्म वेशधारी वञ्चक पुरुष सरलमति मानवों को विश्वास में लेकर उनका अहित करके स्वेष्टसाधन कर लेते हैं। अतः अस्थानकृत विश्वास भी मनुष्य के पराभव का कारण बन जाता है। इसलिये सावधान पुरुष सदा इस नीतिशास्त्रगत उद्बोधन वाक्य का भी स्मरण रखते हैं —

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् अपरिज्ञात कुलशील मानव का तो कभी विश्वास करना ही नहीं चाहिये, विश्वस्त पुरुष का भी पूरा विश्वास न करना हितकर होता है। इनके अतिरिक्त उन वञ्चक पुरुषों से भी सावधान रहना शास्त्रोपदिष्ट है कि जो सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं तथा करते कुछ और ही हैं। ऐसे दुरात्मा पुरुष अपनी चेष्टा आदि से स्वमनोगत दुर्भाव को छिपा लेते हैं तथा सरलमति पुरुष का अहित कर डालते हैं। जो सरल प्रकृति सुजन ऐसे धूर्तों की पहचान उनके आकार इंगित गति चेष्टादि से न करके, उनका विश्वास कर लेते हैं, उनका भी विपत्ति ग्रस्त होना पूर्णतया सम्भावित हो जाता है। श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा यही सब कुछ प्रकारान्तर से अभिव्यक्त कर दिया है। यह सूक्तिपद्य पहेली के रूप में विचारक जन के समक्ष प्रस्तुत किया गया है—

मान लीजिये कि नदी पार जाने के लिये नाव पर बैठे हुये सरल सीधे स्वभाव वाले यात्रिजनों को जब विनीत विश्वस्त कर्मकुशल कैवर्त (मल्लाह) ही मंझधार में लेजाकर वृहत्तरतरङ्ग जलावर्त में डुबो दे तब इस संसार (जनसमाज) में किसे अपयश देना उचित होगा। चतुर नीतिज्ञ विवेकी पुरुष अपराधी का निर्धारण करने की कृपा करें। क्या नौकाचालनक्रियादक्ष कैवर्त ही दोषी है, अथवा अधिकसंख्यक यात्रिभारोद्वहन सामर्थ्य-रहित जीर्ण नौका ही स्वयं डूब जाने में हेतु है। नाव का डूब जाना दैवकृत माना जाय, या फिर असावधान कैवर्तकृत, अथवा असावधान यात्रीजनकृत, अथवा फिर डूब जाने वाले यात्रियों की आयु का अवसान काल ही नाव के डूबने में कारण माना जाय? इन प्रश्नों के उत्तर का अन्वेषण श्री आचार्यपाद ने निर्णेता विचारकों के सप्रमाण निर्णय पर छोड़ दिया है। उद्योगवादी विचारक जन, प्रत्यक्ष अनुमान स्वानुभव प्रमाणों से उक्त कारणों में से किसी भी पक्ष का समर्थन अपनी समझ से दे सकते हैं। अदृष्ट वादी विचारकों के मत से नाव के डूबने का कारण अदृष्ट ही माना जायेगा, क्योंकि अदृष्ट चेष्टित सदा अचिन्त्य, अपरिहार्य एवं अवश्यम्भावी होता है। दैव की बलवत्ता सामान्य उपायों से अप्रतिकार्य होती है— "विधिरहोबलवानिति मे मतिः" होनहार होकर ही रहती है, होनहार से बचने के लिये कोई कितने भी उपाय करे सब विफल हो जाते हैं। नाव के डूब जाने में यात्रियों की आयु की समाप्ति ही प्रमुख हेतु माना जाना चाहिये। वैसे मृत्यु देवता के लिये चार कारणों की अपेक्षा बताई गई है। वे चारों कारण पूर्व निर्धारित माने गये हैं —१. निर्धारित समय, २. मरणनिमित्त (दुर्घटना, रोगादि), ३. स्थान (भूम्यन्तरिक्ष जलादि) और ४. आयु की समाप्ति। इन पूर्व निर्धारित मृत्युकारणों में एक का भी अभाव हो तो मृत्यु सङ्कट टल जाता है। यदि चारों कारणों का समानकालिकयोग हो जाय तो मृत्यु का प्रतिकार सम्भव नहीं होता। अतः यहाँ नौका दुर्घटना का पूर्व निश्चित समय, असावधानी से किया गया नाव का चालन, अतिभारोद्वहनादि निमित्त, नदी में मंझधार स्थान, मुमूर्षु यात्रियों की आयु का अवसान, इन चारों कारणों के एककाल योग होने से नाव का डूब जाना अनिवार्य हो गया।

प्रकृत सूक्तिपद्य से अभिव्यक्त गूढ़ार्थ विचार इस प्रकार किया जा सकता है — विषय वारिपूर्ण नदी (संसारसिन्धु) से पार होने के इच्छुक साधक जन (यात्रियों) की जीवननौका को, चतुर, विनीत, विश्वस्त, सुधीवर (कुशलकैवर्त) भ्रम से समझा लिया गया सुबुद्ध (सुधीवर) असत्सम्प्रदायोपदेष्टा वञ्चक गुरु ही जब उत्तालतरङ्ग जलावर्त (असत्पथ) में डुबा दे, तब कौन अपयश भागी होगा? वञ्चक गुरु या सीधे साधे सरल मति श्रद्धालु साधक जन। यहाँ साधक यात्रियों का तो केवल मात्र इतना ही दोष माना जायेगा कि अदृष्टवश, अज्ञानवश, कुसङ्गवश वञ्चक गुरु का विश्वास कर बैठे। किन्तु असत्पथ प्रवर्तक वञ्चक गुरु ने अपना तो परलोक नष्ट कर ही लिया, साथ ही साधक यात्रियों का जीवन नाश करके लोक निन्दा प्राप्तिपूर्वक अपने नरक का द्वारोद्घाटन भी कर डाला। सरलमति साधुस्वभावापन्न पुरुष सदा निर्मल

चित्त वाले होते हैं। **जग कैसा मुझ जैसा** इस निष्ठा से वे सबको अपना जैसा ही समझ लेते हैं। छल कपटपूर्ण व्यवहारदक्ष, संसारी धूर्तजन का प्रकृति परीक्षण करना उनके अपने वश की बात नहीं होती। यदि कोई विज्ञजन उन्हें सचेत भी कर दे, तो भी वे अपने साधु स्वभाव के कारण तथ्य का निर्धारण नहीं कर पाते। ऐसे विमलान्तःकरण सरलमति पुरुष, अकूतोभय ज्ञानवैराग्य परिष्कृत परमार्थ के तो पथिक हो सकते हैं, आत्मप्रवञ्चनामय विषम विषय कण्टकाकीर्ण संसृतिपथ के नहीं। प्रायः भीतर बाहर एक समान साधु पुरुषों को संसारी धूर्तजन अस्थायी स्वार्थ साधन में प्रयोग करते हैं। इनसे बचने के लिये **सद्भिः कुर्वीत संसर्गं नासद्भिः किञ्चिदाचरेत्** नीतिवाक्य स्मरण रखना अपेक्षित होता है।

पिबन्तो धूम्रौघान् सुखकरतमालावलिभवान्
हसन्तः सन्तोषाद् युवतिगण गोष्ठीषु चतुराः।
भजन्ते केदारोद्गतमतुलमाकण्ठममृतं
सदा सन्तो यस्यां जगति वसतिः सा विजयताम्॥३७॥

व्याख्या— कृषि प्रधानोऽयं भारत देशः, अत्र ग्रामेषु वसतां स्वच्छ सरल मनोवृत्तीनां प्राकृत कृषीवलानां पारम्परिक सहज सुखानुभूतिं विलोक्य तेषामामोदभरितां वसतिं श्लाघन्ते, आचार्यप्रवराः—

यस्यां वसतौ, कृषक बहुल ग्रामे सन्तः साधुस्वभावा अन्योन्य हितचिन्तकाः छलछद्मरहिताः कृषीवलाः, सुखकर तमालावलिभवान् आपातसुखजनक ताम्रकूट क्षोदाङ्गार्युक्त गुडगुडी सम्भवान् धूम्रौघान मादक धूम समूहान पिबन्तः, गलविलादधः कुर्वन्तः सन्तोषाद् मनस्तोषमासादयितुं हसन्तः, ग्राम्यपरिहासं विदधानाः तथा च युवतिगणगोष्ठीषु, युवतीनां ग्राम तरुणीनाम् भ्रातृजायादि सम्बन्धिनीनाञ्च गोष्ठीषु परिषदि हसन्तः क्ष्वेलिकां कुर्वाणाः, चतुराः, ग्राम्य स्त्रीणां पुरस्तादेवात्मानं विज्ञं मन्यमानाः, न तु पठित पुरुषाणां समाजे स्वस्य प्राकृतत्वात्। यद्वा - स्त्रीणामेव तत्रत्यानां समक्षमात्मानं प्रहसनकला कुशलं मन्यमानाः, केदारेषु कृषि क्षेत्रेषु उद्गतमवाप्तं जायादिभिरानीतं दधिभक्त तक्रादिकं कल्यवर्तं, यद्वा केदारोद्भूत-यवमर्कटान्न वज्रान्नशालि प्रभृति सामयिकान्ननिर्मित भोज्यवस्तुरूपममृतं सुधावत्स्वादु मिष्टं, "तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि, अल्प व्ययेन नियतं ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति, इति सुश्लाघ्य स्वास्थ्यप्रदममृतरूपं भोज्य पदार्थमाकण्ठं पर्यन्तं पूर्णक्षुन्निवृत्यै भजन्ते सेवन्ते, अत्रान्नममृतमेव "अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः", तद्विना प्राणात्यय सम्भवात्। केदार

कुल्यादिगतं पानीयमप्यमृन्गेव" -पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनमिति कोशात्। यद्वा - गव्यं माहिषं वा तक्रमप्यमृतम्। "सर्वदा दीप्तकायाग्नेस्तक्रं स्यादमृतोपम्। नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदायुर्बलविवर्धनम्।" भोजनान्ते पिबेत तक्रं जरा व्याधि विनाशनम्। न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः। स्रोतः सु तक्र शुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः। तेन पुष्टि बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते, वातश्लेष्म विकाराणां शतं चापि निवर्तते। "कैलाशे यदि तक्रमस्तु गिरिशः किं नीलकण्ठो भवेत्, कुष्ठित्वञ्च कुबेर को ब्रजतु किं लम्बोदरत्वं गण" इत्यादि तक्र प्रशस्ति वचनानामायुर्वेदे समुपलम्भात्।

क्षीरसागरोद्भूतममृतमिव प्रत्यहं मथित क्षीरोद्गत नवनीतमपि यथारुचि सेवन्ते। इत्थं सर्वमप्यमृतायमान भोज्य निकरं कृषीवलानां सुलभमिति यत्र सा वसतिः कृषीवलानां ग्रामः जगति संसारे विजयताम्, विशिष्टमुत्कर्ष लभतामित्याचार्याणां शुभाशंसनम्। ते प्रायेण निरक्षरा अपि क्रमिक वर्णवैपरीत्येन राक्षसत्वमापन्नेभ्यः साक्षरेभ्योऽतिश्रेष्ठाः –अतीताना गतवर्तमान चिन्ता विशेष राहित्यात् साधुस्वभावाच्चेति तद्वसतिरभिनन्द्यते सूक्तिपद्येन। अत्रामृत सेविनो जनाः शाक फलान्नादि सात्त्विकाहारा एव ग्राह्या, तेषां सद्विशेषण दानौचित्यात्। न तु मृत पशु पक्षि मांसाशनास्तामसा जना स्तेषु सद्विशेषण दान वैयर्थ्यात्। इति साभिप्रायमिदममृत पद मत्राचार्यचरणैरुक्तम्। अत्र कृषकाणां क्रियास्वभावादि वर्णनात् कृषक स्वभावोक्तिरलङ्कारः। शिखरिणी च वृत्तम् रसै रुद्रैश्छिन्ना य मन स भलागः शिखरिणीति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— **कृषिमित्कृषस्व अन्नं बहु कुर्वीत, अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्** इस अनादि पारमेश्वर संविधान के अनुसार भारत वर्ष प्राचीन काल से ही कृषिप्रधान देश माना गया है। पूर्व काल में पराशर प्रभृति ऋषि प्रणीत कृषिशास्त्रोक्त विधि के अनुसार कृषि कलाकुशल कृषकवर्ग के द्वारा कृषि कार्य का सम्पादन किया जाता था। थोड़े में ही सुख-सुविधा पूर्वक निर्वाह करने वाले जातिकुल धर्माचरण परायण कृषकजन सौहार्द, सौजन्य, परोपकार, आत्मीयता, सरल स्वभाव, सत्य व्यवहार आदि मानवीय सद्गुणों से भारतीय मानवता के प्रतीक थे। उनकी दैनन्दिन कार्य पद्धति का साक्षात्कार करके श्री आचार्यपाद ने ग्रामवासी कृषकजनों की निवास भूमि की सराहना प्रकृत पद्य के द्वारा की है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि श्री आचार्यपाद ने आंग्लराज्य कालीन भारत के मानवीय सद्गुणसम्पन्न कृषकवर्ग की प्रशंसा की है, तथा यह सूक्तिपद्य उसी काल में सम्भवतः लिखा गया है। लोकतन्त्र की स्थापना के पश्चात् तो वर्तमान धर्मनिरपेक्ष भ्रष्टाचारी यांत्रिक युग में भारतीय मानवता का मूल्य दिनों दिन गिरता जा रहा है। यद्यपि प्राक्कालीन कृषक श्रमिक जन प्रायः निरक्षर होते थे, किन्तु सुसंस्कृत परम्परया

कर्तव्याकर्तव्य विवेक बुद्धि से वे सद्गुण सम्पन्न होने से शिक्षित ही माने जाते थे। शिक्षित होने में साक्षरता आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध हो सकती है, अनिवार्य नहीं। साक्षर जन भी कुसङ्ग प्राप्त दुर्गुणों से अपना कर्तव्याकर्तव्य विवेक खो कर अशिक्षित कोटि में ही गिने जाते हैं। अतः शिक्षितता तथा साक्षरता दोनों ही भिन्न हैं। साक्षरता साधन तथा शिक्षितता साध्य है। दुर्गुणों को खुली छूट दे देने वाली साक्षरता भारतीय मानवता को अहितकर एवं घातक होती है। श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य द्वारा देश के अन्नदाता कृषक श्रमिकों की उचित सराहना करते हुए उनके आवासीय ग्राम का उत्कर्ष सूचित किया है।

कृषक बहुल ग्राम में परस्पर हितचिन्तक छलछद्म रहित स्वधर्म मर्यादित कृषकजन, आस्थान गोष्ठी में हुक्का पीते हुए मनोरञ्जन की दृष्टि से युवतियों के साथ ग्राम्य हास्यविनोद करते हैं। तथा ऐसा करने पर वे अपना प्रहसन कलाकुशल व्यक्तित्व समझते हुए सन्तोष का अनुभव करते हैं। जब वे कृषकजन अपने खेतों में जोत या निराई कटाई करते हैं तब भार्या आदि के द्वारा आनीत, दधिभक्ततक्रादि कल्पवर्त रूप अमृत पदार्थ यथेष्ट सेवन करते हैं। स्वक्षेत्रोत्पन्न अन्न अयाचित होने से अमृत संज्ञक ही है **अमृतं स्यादयाचितम्** समय समय पर मक्का, बाजरा, चना, मटर, यव, गोधूमान्नादि अमृत पदार्थों का सेवन करते हैं। तदुपरान्त केदार कुल्या का यथेष्ट जल पीते हैं। जल का पर्याय भी अमृत है — **पयः कीलालममृतम्**। तक्र को भी अमृत कहा गया है — **तक्रं स्यादमृतोपम्**। इस प्रकार अमृतरूप सभी भोज्यसामग्री कृषकजन को सुलभ होती है। सरसों की भुजिया, बथुआ, पत्ता चना का शाक, मलाईदार दही, नवीन चावलों का भात आदि सभी अमृतोपम सुस्वादु सामयिक भोज्य पदार्थ कृषकों को उपलब्ध होते हैं। अतः वे भाग्यशाली हैं। नागरिक प्रायः इस सुविधा से वंचित रहते हैं। अतः श्री आचार्यपाद के विचार से धन्य है वह ग्राम जिसमें ऐसे भाग्यशाली कृषकबन्धु निवास करते हैं। प्रकृत सूक्तिपद्य में कृषकों द्वारा तमाखू पीने की चर्चा की गई है। भारत देश में तमाखू नामक मादक द्रव्य मुगल साम्राज्य की देन है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में तमाखू का उल्लेख नहीं मिलता। आधुनिक लेखकों ने उसे ताम्रक या ताम्रकूट नाम से व्यवहृत कर लिया है। सूक्तिपद्योक्त अमृतभोजी कृषकजन, सात्त्विक फलान्नादि सेवन करने वाले ही समझने चाहिये, न कि मृत पशु पक्षिमांसाशी जन। अन्यथा वहाँ 'सन्त' विशेषण पद वैयर्थ्यापत्ति सम्भव हो जायेगी।

यया॰॰गर्भाद्गुप्तः सकल परिपोषं समगमः
कुवाणीं तां काकीं तृणमिव वराकीं त्वमजहाः।
इदानीं किं ब्रूमः परमचतुरं त्वां परभृत !
स्ववाणीं निन्दन्तं विशदबक वागात्तहृदयम्॥३८॥

व्याख्या— सर्वाभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिकरीं सनातन वैदिक सत्संस्कृतिं विहाय भारतीया जना आपात रमणीय विषय रसाकृष्टधियो दुर्धियः सर्वनाशकरीमसत्संस्कृतिं म्लेच्छजनसेवितां न केवलमाद्रियन्ते प्रत्युत पूर्वजैः सुरक्षितां स्वसंस्कृतिं भृशं निन्दन्त्यपि। धर्मनिरपेक्ष भ्रष्टाचारिणः केचित नेतारोऽपि दम्भेनायोजिते- संस्कृत दिवसे हिन्दीदिवसे च स्वेच्छया म्लेच्छ भाषमैव स्वविचारं प्रकटयन्तो दरीदृश्यन्ते। जन प्रतारणायैवायोजिते मद्यपान निषेध दिवसे मद्यमासेव्यैव भाषन्ते। कलेरेष महिमा, एतदालोच्य चेखिद्यमान मनोभिराचार्यपादैः परभृतान्योक्तिमाश्रित्य सूक्तिपद्यमिदमभिहितं प्रतिभाति—

तत्र वाच्योऽर्थ इत्थम् - हे परभृत! परैरन्यजातीयैः काकैर्भृतः पोषित-स्तत्सम्बुद्धौ। यया काक्या आगर्भात् स्वमातृ जनिताण्ड गर्भकालात् गुप्तो रक्षितः, सकल परिपोषं सर्वविध परिपोषणं समगमः सम्यक् लब्धवानसि, तां वराकीं तपस्विनीं काकीं काकस्त्रियं कुवाणीं कर्कश वागियमिति कृत्वा तृणमिव अनुपयोगितृण खण्डमिव त्वमजहाः अहासीः। इयं मम धात्री कटुवागिति हेतो-रेव त्वया परित्यक्तेति परमचतुरं समीक्ष्यकारिणं त्वां सम्प्रति स्ववाचं स्वमधुरभारतीं निन्दन्तं विशद बकवागात्त हृदयं- विशदः केवलं बहिरेव धवलो नान्तः, छलेन मत्स्य ग्रहण व्यापार पारवश्यात्। स चासौ बकः बक पक्षी तस्य वाचा कूट कपट वाण्या स्फुटित कांस्यस्वन तुल्य क्रेंङ्कार नादवत्या आत्तं वशीकृतं हृदयं यस्य तं तादृशं त्वां परभृतं, परेषां भृतकमिव स्थितं किं ब्रूमः तवेदं परिवर्तनं वक्तुं न सुशकमिति भावः। कोकिलकुल कलाधरोऽपिसन् त्वामिदानीं कदाचरणादन्य एव संवृत्तोऽसीति तव दौर्भाग्यं वक्तुमश्यक्यमेव। अस्य दुष्परिवर्तनस्य त्वमेवोत्तरदायी नापरः कश्चिदित्याशयः अथ परभृतान्योक्त्या ध्वमितोऽयमर्थोऽर्थ शक्तिमूलः -

हे मातृभूमि प्रसूत भारतीय मानव! त्वं सुश्लाघ्य वैदिक संस्कृति पोषितोऽपि सन् तां वराकीं स्वधात्रीं काकीमिवोपकारिणीं प्रान्तीय जनसाधारण स्वीकृत मातृभाषां कुवाणीं मत्वात्याक्षीरिति परम चतुरमभारतीय भाषां गौर्वार्हां भ्रमात् मन्यमानं, स्वसंस्कृतिं संस्कृत वाचञ्च निन्दन्तं त्वामिदानीं किं ब्रूमो वयम्। स्वतन्त्रेऽपि देशे परभृतक इव परायत्तभृत्य इव साम्प्रतं दृश्यसेऽतः परं किं ते दौर्भाग्यम्। अवहितो भव, एतदवेहि — भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतिः संस्कृतं तथा। न हि ज्ञानं भवेत् पुंसां संस्कृतेः संस्कृतं विना। इति लोक परलोक कल्याण दायिनीं देव वाणीं तद्बोध्यां संस्कृतिञ्च स्वस्वरूप संरक्षणाय समाद्रियस्वेति अत्र

ध्वनितोऽर्थो वाच्यार्थमुपकरोतीति परभृतान्योक्तिरलङ्कारः गूढोक्त्या वैषम्य कथनात् विषमालङ्कारोऽपि शिखरिणी च वृत्तम्। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— श्रुति सिद्ध धर्माचार विचारमयी भारतीय सनातन सत्संस्कृति की अवहेलना करते हुए आधुनिक भोगविकासवादी मानव, आपातरमणीय, परिणाम में विषोपम, सांसारिक असद्विषयों से आकृष्ट होकर बहुमूल्य मानवीय मर्यादायें भूल बैठे हैं। ऐसे दिग्भ्रान्त भारतीय मानव, अभ्युदय श्रेयोविनाशिनी म्लेच्छजन सेवित - अनार्य संस्कृति का केवल आदर ही नहीं करते, प्रत्युत पूर्वजों के द्वारा समादृत संरक्षित सनातन भारतीय आर्य संस्कृति की जितनी भी उनसे की जा सकती है, निन्दा भी करते हैं। देखा जाता है कि धर्म निरपेक्ष भ्रष्टाचारी नेतृत्व में आयोजित, संस्कृत या हिन्दी दिवस के अवसर पर स्वेच्छापूर्वक अभारतीय म्लेच्छभाषा में ही अपने विचार प्रकट करते हुए गौरव का अनुभव करते हैं। जन प्रतारणार्थ आयोजित मद्यपान निषेध दिवस पर भी मद्यसेवी महोदय भाषण करते सुने गये हैं। यह दम्भलीला वर्तमान धर्मनिरपेक्ष युग की ही देन है। यह सब कुछ दृष्टिगत रखकर श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य द्वारा काक परभृतान्योक्ति का सहारा लेकर अपनी ओर से खेद प्रकट किया है। हे परभृत (कोकिलसुत)! जिस काकभार्या ने तुमको अण्डे से बाहर निकाला, वात्सल्य भाव से पालन पोषण देकर पक्षधर बनाया, उसी अपनी काकी को केवल कर्कश वाणी बोलने के कारण तिनके समान तुमने त्याग दिया। यह तुम्हारी कृतघ्नता ही मानी जायेगी। हे परम चतुर स्वरमाधुर्य के धनी कोकिलसुत! इससे भी अधिक तुम्हारे निर्विचार आचरण के सम्बन्ध में क्या कहा जाय कि तुम अपनी जातिकुल परिचायक सुमधुर वाणी की भी निन्दा करते हुए मत्स्यघाती धूर्त पक्षी बगला की क्रेङ्कार ध्वनियुक्त अश्रव्य वाणी को अति उत्तम समझते हो। वह बक पक्षी बाहर से ही स्वच्छ श्वेत उज्ज्वल वर्ण का दिखाई देता है, भीतर से वह हिंसक मनोवृत्ति वाला है। अतः उससे तुम्हें सावधान ही रहना चाहिये। इस सूक्तिपद्य के वाच्यार्थ से अभिव्यक्त अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये।

हे परभृत !(स्वतन्त्र होकर भी परकीयभृत्य) जिस मातृभूमि की सहज सुन्दर सत्संस्कृति ने तुझे उत्पत्तिकाल से अब तक संरक्षण पोषण परिवर्धन देकर समर्थ किया, उसकी कुवाणी - 'कु' मातृभूमि की जनसाधारण - व्यवहारभाषा को कुत्सित (जीविकोपार्जनादि में कुण्ठित) समझ कर छोड़ बैठा है। तथा इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति की जननी अमरवाणी देवभाषा संस्कृत की मृतभाषा आदि शब्दों से घोर निन्दा करता हुआ अभारतीय गौराङ्ग म्लेच्छभाषा को गौरवान्वित समझ कर उसे परम आदर देता है। इस सम्बन्ध में अपने आप को परम चतुर समझने वाले हे असिताङ्ग मानव! तुझ से क्या कहा जाय, कि जो तू अपने स्वरूप स्वभाव जातिकुल धर्म सभी को भूल गया है। तुझे यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि भारत

देश की तथा भारत देशवासी मानवों की सर्वोत्कृष्ट पहचान भारतीय सत्संस्कृति तथा भारतीय संस्कृत वाणी से ही होती है। इन्हीं दो के कारण भारत देश सर्व देश शिरोमणि रहा है। संस्कृत भाषा के ज्ञान के विना भारतीय संस्कृति एवं भारतवर्ष के परमोत्कर्ष का बोध कदापि सम्भव नहीं हो सकता। अतः भारतीय प्राचीन गौरव की रक्षा के लिये अपनी संस्कृति तथा संस्कृत भाषा-बोध से विमुख होना कदापि उचित नहीं है। संस्कृति-संस्कृत के संरक्षण के लिये ही तुझे मानव शरीर मिला है। उत्तम वंशधर पुत्र होकर भी वंश को कलङ्कित करने की दशा में जा रहा है, यह शोचनीय है। श्री आचार्यपाद का यह सूक्तिपद्य भारतीय मनीषा के लिये उद्बोधन वाक्य है तथा विशेष रूप से वैदिक संस्कार-द्विजातिवर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये तो यह सूक्ति वाक्य सन्मार्ग दर्शक ही है। भोगमोक्षाधिगमाधिकार तथा तद्योग्यता भारतीय संस्कृत वाङ्म्य बोध के बिना सम्भव नहीं! संस्कृत देवलोक की भाषा है। इसके ज्ञान के बिना उत्तम स्वर्गादि लोकों में प्रवेश तक वर्जित है। तत्रत्य वाग्व्यवहार के लिये सहायक-दुभाषिये भी वहाँ नहीं मिलते। धर्मादिपुमर्थ साधन द्विजत्व बार बार नहीं मिलता। संस्कृत भाषा ज्ञान शून्य द्विजत्व निष्प्राण शरीर के समान माना गया है। भारतीय वर्णाश्रमानुकूल शिक्षा का मूल उद्गम श्रोत अमर भारती संस्कृत भाषा ही है। तथा मानवीय सदाचार, अहिंसा, सत्य, न्याय, निष्ठा भारत की प्रबल परिचायिका यही भाषा है।

तरिर्जीर्णात्यन्तं सरिदपि गभीरा भ्रमवती
शिशुर्दाशो गोपः कतिपय कराढ्यो दिनकरः।
घनश्यामा रात्रिर्युवतिरसहाया कुलवधूरहं
पारे नद्याः शिव शिव कथं यामि शरणम् ॥३९॥

व्याख्या– अत्र सूक्तिपद्ये - नदी सन्तरणोपाय चिन्तनार्थक श्लोक वाक्यार्थ व्याजेन कश्चिन्मुमुक्षुर्जराजीर्ण कलेवरो विषय वैरस्यमापन्नो मुक्त्युपायानवगमात् स्वमसहायं मत्वा विमृशति, सद्गत्यै च शिवमकारण-करुणाकरं स्मरति–

तरन्त्यनया नदीं सा तरिर्नौका मानव शरीररूपा, भवसन्तरणायैव नौकावत् मानव शरीरं भगवत्कृपयोपलभ्यते, नान्यदस्य किमपि प्रयोजनम्। आहार निद्रादि भोगास्तु पशुपक्षि सरीसृपादीनामप्यविशेषेण सन्ति, तेषां भोगयोनि मात्रत्वात्। अतो मानुष्यकं मुक्ति साधनमेव, आत्मानात्म विवेकोदय सामर्थ्यादिति तद्विदां निश्चयः, क्षणे क्षणे शीर्यत इति क्षणभङ्गुरं शरीरं, तदपि जरा जीर्णत्वात् अत्यन्तं

पूर्णतया जीर्णा तरिरिव स्थितम्। सरिदपिं सरणशीला संसृति नदी, गभीरा अगाधा भ्रमवती - नदी पक्षे, जलावर्तिनी। संसृतिपक्षे - नाना नामरूपादि भेद भ्रान्ति मयी, दाशः कैवर्तश्च-शिशुः, शैशव सुलभ हिताहितानभिज्ञः, गोपः गोपालकः मूढमतिरित्यर्थः। संसृतिपक्षे - चञ्चलं प्रमाथि बलवद्दृढं मनः, तदपि - आपातरमणीय विषयरसाग्रह ग्रहित्वम्, गा इन्द्रियाणि पातीति गोपः असद्विषय वासनाक्रान्तमिति भावः। दिनकरः सूर्यः कतिपय कराढ्यः, स्वल्पावशिष्ट किरणोऽस्तं यियासुरस्ति। संसृति पक्षे- दिनकरः, प्राणिनां जीवनदिनगणनाकरः, कतिपय किरणः, जराजीर्णत्वादायुषः स्वल्पकालसूचकः, इदानीमायुषः सायं सन्ध्याकाल इति भावः। मुख्यार्थ पक्षे - रात्रिः तमिस्रा, सापि घनैः सघनघनघटाभिः श्यामा निविडान्धकारमयी, संसृति पक्षे - रात्रिमोर्हनिशा, घनैः परस्परानुस्यूत रागद्वेशादिभिः श्यामा- आच्छादित प्रबोध चन्द्रोदया। वाच्यार्थ पक्षे- युवतिः यौवनारूढा, योषित्, असहाया, एकाकिनी कुलवधूरुच्चकुलोत्पन्ना उच्चकुले जातपरिणया च पतिप्राणा। संसृति पक्षे - युवतिः सदैव यौवनवती, जराजन्म मरण रहिता जाग्रदाद्यवस्था त्रयसाक्षिणी सदा सच्चिद्रूपापि अतद्वित्, असहाया एकाकिनी - जीवैक्य वादेऽद्वितीयाभावात्। भेदवादेऽपि स्वान्तः करणावच्छिन्नचैतन्य रूपेणाद्वितीया। कुलवधूः - कौ पृथिव्यां सर्वाधिष्ठान् तत्त्वे लीयते प्रलयावस्थायां तत कुलं जीव जगत, तद बध्नाति स्वमायापाशेनेति कुलवधूः। यद्वा - वहति सर्वं चरमचरं जगत, "जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगदिति भगवदुक्तेः, कुलवधूर्वा। जीवकलारूपा शक्तिरित्यर्थः। सा स्वयमात्मनैव लूतावत् जगज्जालं निर्माय अप्रतिबुद्धं जीवात्मानं बध्नाति वहति वा। प्राकृतिक सम्बन्धात् नारीत्वं तस्य। पारेनद्याः "पारे मध्ये षष्ठ्या वेति षष्ठीयोगेऽव्ययीभावः नद्याः पारे परतीरे शरणं गृहं" शरणं गृहरक्षित्रोरिति कोशात्। वाच्यार्थ पक्षे - कथं केनोपायेन यामि गच्छामि। संसृति पक्षे- द्वैतरूपायाः संसृति नद्याः पारे अद्वैतधाम्नि शरणम् गृहं स्वात्मन्यवस्थानरूपम्, यद्वा - शरणं रक्षितारं सख्यसम्बन्धात् सखायं परमेश्वरं कथं केनोपायेन यामि तदेकीभवामि। यद्वा - कुलवधूः - कुल कुण्डलिनी महादेवी चिरात् प्रसुप्ताहमिदानीमकुलं सदाशिवं कथं प्राप्नोमि "कुलं प्रोक्ता महेशानी अकुलं शिव उच्यते।" इति तन्त्रोक्तेः। ततः स्वकार्य सिद्ध्यै अन्योपायानवगमात् परमदयालोः शिवस्य शिवशिवेतिनाम्ना स्मरणं कीर्तनञ्च विहितम्। अनेन, स्मरण-कीर्तनाभिध भक्ति भेदवत्वं सूच्यते। अत्र भय

चिन्तावेग भावा ध्वन्यन्ते। नावा तार्य कुलवधू स्थिति सामान्येन सूक्ष्म मति संवेद्यार्थ प्रकाशनात् सूक्ष्मालङ्कारः यद्वा वाक्यार्थ व्याजेन शिवस्तुति करणात् व्याजस्तुतिर्वा। शिखरिणी च वृत्तम्। तल्लक्षणं प्रागुक्तम्।

भावार्थ– प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा श्री आचार्यपाद ने सायङ्काल में नाव के द्वारा नदी के दूसरी पार जाने की इच्छुक सायंसमय, जीर्ण नौका, मूढ़बुद्धि बालक नाव चालक, आकाश में घिरे बादल देखकर चिन्तित, किसी एकाकिनी अबला युवती के व्याज से विषयविरागी, जराजीर्ण कलेवर, मुमुक्षु कृत सद्गति विषयक चिन्ता को अभिव्यक्त किया है।

सूक्तिपद्य का वाच्यार्थ - नाव पुरानी जीर्णशीर्ण है। नदी भी गहरी जलावर्त सङ्कुल है। नाव का चालक मल्लाह भी बालक है, क्रियादक्ष नहीं है। सूर्यनारायण भी अस्त होने जा रहे हैं। काले बादलों से घिरी बरसात की रात्रि है। मैं भी यौवनवती अकेली असहाय तथा उच्चकुल की परिणीता वधू हूँ। ऐसी विकट स्थिति में हे शिव! मैं अपने घर कैसे पहुँच पाऊंगी? हे शिव शङ्कर! मेरी दयनीय दशा देखकर दया करो। मुझे इस संकट से पार करो भगवन्!

मुमुक्षु की सद्गति प्राप्त्यर्थ चिन्ता का व्यञ्जक आध्यात्मिक अर्थ – भव नदी सन्तरण का साधन यह मानवशरीर अत्यन्त जराजीर्ण हो गया है। अब नदी पार जाने में अक्षम पुरानी नाव के समान यह शरीर ध्यान ज्ञान योगादि साधना के योग्य नहीं रह गया है। भव नदी भी सदा संसरणशीला अगाध तथा बुद्धिभ्रम युक्त है। अर्थात् नाना नाम रूपादि भेद की भ्रान्ति देने वाली है। नाव का चालक भी चित्तरूप मल्लाह खाने खेलने वाले बालक के समान मूढ़ ही है। यह चञ्चल चित्त असद्विषयों की ही ओर दौड़ता है, भयङ्कर परिणाम नहीं समझता। प्राणियों की आयु की गणना करने वाले कालात्मा के सौरगणित के अनुसार अब आयु की समाप्ति में स्वल्प समय ही अवशिष्ट रह गया है। मेरे जीवन का सन्ध्याकाल आ पहुँचा है। रागादि घनघटाव्याप्त मोह रात्रि के सूचीभेद्य अन्धकार में आत्म-प्रबोध-चन्द्र छिप गया है। ऐसी दुर्निवार संकटमयी स्थिति में जन्म-मरणादि-रहित नित्य नवीन यौवनवती अवस्थात्रय साक्षिणी सच्चिद्रूपा होकर भी मैं अबोध पराहत असहाय कुलीन स्त्री जीवकला रूप में द्वैतरूप भवनदी पार करके अपने घर (परमविश्रान्तिधाम) कैसे पहुँचूँगी तथा अपने नित्यसखा परमेश्वर से कैसे मिल सकूँगी। हे परमशिव! मेरी नैया पार लगाने में आप ही समर्थ हैं। अन्तकाल में सर्वेश्वर श्री शिवशङ्कर की स्मृति बन्धमोक्षप्रद होती है। यहाँ प्राकृतिक सम्बन्ध से जीव का नारीत्व कहा गया है। पुरुष पद वाच्य तो एक ही परमेश्वर है, जिसकी वैदिक पुरुषसूक्त के द्वारा स्तुति की गई है। **"स एव वासुदेवो सो साक्षात् पुरुष उच्यते, स्त्री प्रायमितरत सर्वं जगद्ब्रह्म पुरस्सरम्"** वही जगन्निवास परमेश्वर एक मात्र पुरुष कहा गया है, अन्य तो ब्रह्मादि स्थावरान्त नामरूपात्मक दृश्य जगत्प्रपञ्च स्त्रीरूप ही है। मायापति की

स्त्री माया का ही यह लीला विलास मायारूप ही है। अतः सच्चिदानन्द स्वरूप सनातन पति परमेश्वर परशिव से मिलने के लिये व्याकुल, नित्यनवीन यौवनवती जीवकला की प्रणयभक्ति हेतुक द्वैत की कल्पना पारमार्थिक अद्वैत में की गई है कि जो भक्तिशास्त्र में "मुक्तिशताधिका" मानी गई है। "पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे" तादृशी यदि भक्तिः स्यात सा तु मुक्ति शताधिका।

इसी सूक्ति पद्य की आचार्यश्री द्वारा श्रुतिलेख-बद्ध कराई गई टीका इस प्रकार है —

गोपिका गोरस विक्रयार्थ यमुना को पार कर मथुरा में पहुँची, गोरस विक्रय में विलम्ब हो गया। श्री दिनमणि भास्कर अस्ताभिलाषी हैं। यमुना का जल प्रवाह बढ़ गया है। नाविक है नहीं। हाँ, एक गोप बालक (श्रीकृष्ण) एक पुरानी सी नौका लिए खेल सा कर रहे हैं। वह गोपिका चिन्तातुर हो कह रही है —

"यह नौका अत्यन्त जीर्ण है, नदी अत्यन्त गम्भीर है अर्थात् जल अथाह है, और उस जल में कितने ही भंवर पड़ रहे हैं, यह (नाव पर) नाविक छोटा सा बालक है और वह भी ग्वाला है (जन्मजात नाविक नहीं), श्री सूर्यनारायण की भी कुछ ही किरणें शेष हैं (वह अस्तप्राय ही है) यह रात मेघमालाओं से आच्छन्न है (अतः) घनान्धकारमयी है, मैं युवती हूँ (तिस पर) अकेली हूँ और (साधारण घर की नहीं) अच्छे कुल की बहू हूँ, हे प्रभो! नदी के पार मेरा घर है, वहाँ कैसे पहुँचूं! प्रस्तुत पद में आचार्यश्री ने गोपिका के व्याज से जीवात्मा की अत्यन्त करुण एवं मार्मिक परिस्थिति का सजीव चित्र अंकित किया है। इसका मूल गोकुल (गायों का विश्वाय स्थान) है। यह अपने कुछ संस्कारों गोरस (इन्द्रिय विषयानन्द) का बोझा लेकर उस का विक्रय (त्याग) करने के हेतु मथुरा (मथुरा प्रेम मार्ग की) नगरी में पहुँची है। यहाँ आकर वह गोरस (इन्द्रिय विषयानन्द) के व्यवहार में इतनी संलग्न हुई कि अपने घर की सुधि ही भूल गई। दिन (जीवन) प्रायः समाप्त हो गया।"

अब बुढ़ापे में आत्मचिन्तन की याद आई। परन्तु अब क्या हो! इतने अधिक समय में स्वोपार्जित सकाम कर्मों का जल प्रवाह यमुना (अन्तःकरण) नदी में अथाह एवं तीव्र हो गया है। अपने कर्मों के चक्रों ने उसमें असंख्य भंवर उत्पन्न कर दिये हैं और वे बार-बार इसे वहीं घुमाने के प्रयत्न में है और पार जाने से रोकते हैं। इसके पास साधन नहीं है। आती बार इसे एक नई नाव मिल गई थी, जिससे उसे नदी के पार आने में कुछ कष्ट नहीं हुआ, और थी भी प्रभात-वेला आलोकमयी! अब वह नाव (देह) अत्यन्त जीर्ण (बूढ़ी, शक्तिहीन, शिथिलेन्द्रिय) हो गई है। विकट समस्या है। कोई पार लगाने वाला नहीं। अच्छी प्रकार देखने पर इस नाव में एक व्यक्ति दीख पड़ा है। वह कौन है? वह एक छोटा सा बालक है, वह नाविक पार लगाने वाला तो नहीं, परन्तु हाँ, गोप (इन्द्रियों का स्वामी) अवश्य है,

और वह है मन। यदि वह इस जीवात्मा का दाश-दास - बन जाये तो पार लगाने में समर्थ हो सकता है।

"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयाः"— परन्तु वह तो अभी तक बालक ही है, इन्द्रियों के द्वारों से जाती हुई विषय-वासनाओं की आंधी में बेचारा क्या करेगा ?

क्यों जी ! वह तो इस के साथ ही यहाँ आया था, वह इसका चिरन्तन साथी है। फिर वह अभी तक नन्हा सा बालक ही क्यों है ? हाँ, इस जीवात्मा ने अपनी अन्य सहचरियों (इन्द्रियों) के संग में मग्न हो उसे भुला दिया। उस की प्रौढ़ता के लिए अपेक्षित स्वाध्याय जप-तप आदि नियमों का अमृतमय भोजन नहीं दिया। इसी कारण वह अभी पूर्ववत् बालक ही है और चञ्चल है। वह इसे पुकारता है - "घबराओ मत। मैं इसी नाव के द्वारा तुम्हें उस पार लगा दूंगा।" परन्तु वह (जीवात्मा) तो अब बच्ची नहीं, युवती है, उसकी बच्चों की सी बातों पर क्यों ध्यान देने लगी। अति चञ्चल उसकी बाल सुलभ चपलता को देखकर तो वह और भी उससे उदासीन है और उस पर विश्वास नहीं कर सकती। वह कहती है — हे चञ्चल बालक ! (मन) देख दिन (जीवन) प्रायः बीत गया है, सूर्य अस्त हुआ जा रहा है (मरण वेला समीप है)। अब आगे रात ही रात है, घोर अन्धकार है। मैं अकेली और विषय वासनाओं के प्रद्दाम वेग के भार से लदी यौवन में हूँ। इतनी रात बीते घर पहुँचूँगी तो लोग क्या कहेंगे ? रात भर घर से बाहर रहना भी तो अपवाद (परिवाद) से शून्य नहीं। मैं जानती हूँ कि तू शिशु है, चञ्चल तो अवश्य है, परन्तु कोई दुर्णय तुझमें नहीं। जगती इस बात को नहीं मानती। इसके लिए तो मर्यादा का पालन करना ही पड़ता है, "यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्ध नाचरणीयनाचरणीयम्।" मैं जगती की अवहेलना कर देती। कोई कुछ कहता रहे - मेरा मन शुद्ध है। मैं जानती हूँ, परन्तु करूं क्या ? मेरा घर (ससुराल) साधारण कुल नहीं, वह उच्च आदर्श एवं लब्ध प्रतिष्ठ, महान् अनुपम कुल है। उसे क्यों कर लाज लगाऊं, कलंकित करूं ? इसलिए तेरे संग इस अन्धकार पूर्ण रात्रि में अतिशय एकान्त में नौका विहार नहीं हो सकता।

उसने मन से तो ऐसा कह दिया, उसके आशापूर्ण एवं आश्वासन सनाथ मधुर आमन्त्रण का प्रत्याख्यान तो कर दिया, क्योंकि कुल की मान मर्यादा की चिन्ता है, उसे बचाना है। परन्तु यहाँ तो उभयतः पाश्या रज्जुः है, "आगे कुआँ, पीछे खाई है। इस महानदी के उस पार घर है, वहाँ पहुँचा कैसे जाय ? कुल की मान मर्यादा बचने की कोई आशा नहीं। हृदय अधीर हो उठा और सहसा बोल उठी—". . . . पारे नद्याः शिव ! शिवः ! ! कथं यामि शरणम्।" वही तो इसकी शरण है। उसके बिना इसे ऐसे भटकने के सिवाय मिलता ही क्या है ? इसे चैन व शान्ति तो वहीं मिलेगी, अन्यत्र कहाँ ? वह गोकुल जो ठहरा, सभी गौएं (इन्द्रियाँ) वहीं तो आकर विश्राम लेती हैं। वहीं एकमात्र इनका विश्राम स्थल है। जब तक ये विश्राम न लें, चञ्चलता न त्यागें, अपने सभी व्यापार स्थगित न कर दें, तब तक शान्ति

तो आकाश-पुष्प ही है न? इस अनन्य शरण जीवात्मा को अपने घर में (शरण) में पहुँचाना, असम्भव सा ही हो गया है। वाह्य साधन तो कोई भी ऐसा नहीं जो इसे यथा समय रात्रि के समय (आरम्भ) में ही घर पहुँचा दे और इसकी लाज बच जाये। अब चाहे यह नाव पर बालक के साथ बैठे, चाहे इधर किनारे पर ही खड़ी रह जाये, लाज तो बचती नहीं दिखती। हाँ, एक ही सम्भावना है, इसके घर वाले अगर इसके साधु चरित्र पर रीझे हुए हों और इस पर वत्सल हों तो तो अवश्य ही श्री सूर्यनारायण को अस्ताभिलाषी देख चिन्तातुर हो गए हों और इसको लेने के लिए आ जाएं, इसे स्वयं लिवा ले जाएं तो फिर अवेर सवेर का प्रश्न ही नहीं उठता, यही एकमात्र साधन इसकी लाज बचाने की आशा है। प्रभु कृपा का ही एक मात्र भरोसा है।

यदि स्वात्मानन्दाऽभिनवरमणीया कृतिरियं
बुधाभासं लोकं न रमयति तच्चित्रमिह किम्।
यथा चेतो यूनां कलित ललिताऽऽकल्पललना
समाहर्तुं तद्वत्प्रभवति शिशूनामपि किमु ॥४०॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - "विद्वानेवाभिजानाति विद्वज्जन परिश्रमम्। नहि वन्ध्या विजानातिगुर्वी प्रसव वेदनां", इतिवत् रसभावविदा एव ग्राह्यं, चमत्कृत रससंमर्पक काव्यार्थमबुधोऽसहृदयो जनो नो वेत्ति चेत् तर्हि किमनेन काव्यकर्तुरनिष्टं, प्रत्युताबुधस्य मौढ्यमेव प्रकाशते, इति दृष्टान्तेन स्पष्टीकुर्वन्त्याचार्यपादाः -

स्वात्मानन्दाय स्वमनः प्रसादाय, अभिनवरमणीया नूतन चमत्कृत कविकल्पना सौष्ठवोपेता इयं कृतिः काव्यरचना बुधाभासं, बुधस्य विदुष आभासो मिथ्याप्रतीतिर्यस्मिन्। तमबुधं लोकं जनं न रमयति नान्दयति चेत्, तर्हि इह तदानन्दाभवे किं चित्रमाश्चर्यम्। न किमपीत्यर्थः। अत्राश्चर्याभावो दृष्टान्तेन दृढ़ीक्रियते - यथा यद्वत कलित ललिताकल्प ललना- कलितो धारितो ललित आकर्षक आकल्पो वेश विन्यासो यया सा चासौ ललना सुन्दरी युवती यूनां तरुणानां चेतः मनः समाहर्तुं वशीकर्तुं प्रभवति शक्नोति तद्वत् शिशूनामपि अपरिज्ञात स्त्रीपुरुष भेदानां बालानामपि मनोहर्तुं प्रभवति किमु? यथा बालानामप्रकटवासनानामबुधानां रस निर्झरिणी कविता मनः प्रसाद जननी भवितुं नार्हति इति। अत्राबुधत्वस्य बालत्वे प्रतिबिम्बनात् दृष्टान्तोऽलङ्कारः। शिखरिणी च वृत्तम्। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— विद्याभ्यास परिश्रमी विद्वान् के वैदुष्य का ज्ञान तादृश विद्वज्जनों को ही होता है, अबुध प्रकृत जन के लिये नहीं। इसी प्रकार यदि विशिष्ट काव्य रचनाकार कवि के द्वारा निर्मित शब्दार्थ सौष्ठवोपेत सुस्वादु सुन्दर चमत्कृत रसवर्षिणी कविता को सुन पढ़कर अविद्वान् असहृदय ज्ञानलवदुर्विदग्ध पुरुष को आनन्दानुभूति न हो तो इससे रचनाकार के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की हानि नहीं हो सकती। काष्ठ कुड्याश्मसन्निभ असहृदय अबुध जन की वहाँ तक पहुँच ही नहीं होती, जहाँ प्रातिभज्ञान के धनी कविवर की वेद्यान्तर संस्पर्शशून्य काव्य रसधारा प्रवाहित होती है। अथवा भाषा तथा प्रतिपाद्य विषय की प्रौढि से युक्त होने के कारण विद्वज्जन प्रणीत ग्रन्थरत्न का सार भी स्थूलदर्शी अविद्वान् को अवगत नहीं होता तो उस उपादेय ग्रन्थ का मूल्य नहीं घट जाता। इसी तथ्य को श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा सुपुष्ट किया है। सरस सुन्दर शब्दार्थ योजना शिल्पकार- कवि महोदय की प्रतिभा-प्रसूत श्रवण-सुखास्वाद-समर्पिका, अभिनव रमणीय काव्यरचना, यदि बुध असहृदय श्रोता या पाठक को रुचिकर नहीं होती हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी प्रकार सर्वसाधारण जन दुरूह सद्ग्रन्थरत्नों के द्वारा प्रतिपादित विषय का संशयरहित साधु अवगम, किसी ज्ञानलवदुर्विदग्ध पण्डितम्मन्य जन को यदि नहीं होता तो क्या आश्चर्य है। जिस प्रकार वस्त्राभरण ललित वेशविन्यासवती यौवनवटिका, सर्वाङ्गसुन्दरी कामिनी, तरुणी रसिक कामुक जन के मन को हरण कर लेती है, ठीक उसी प्रकार क्या उन अबोध बालकों को भी आकृष्ट कर सकती है कि जो स्त्री पुंभिदावबोधशून्य, अनुद्भिन्न यौवन तथा अनभिज्ञात सौरत होते हैं। जैसे अनङ्कुरित-वासना-बीज बालकों को युवती अपने वश में नहीं कर पाती, ठीक वैसे ही अनधिगत प्राक्तनैहिक काव्यार्थ संस्कार असहृदय जन समुदाय के मन को भी चमत्कृत रस वर्षिणी काव्य सुधाधारा आत्मानन्द-समुद्रावगाह प्रदान नहीं कर सकती। सूक्ष्मदर्शी सारवेत्ता विद्वानों के द्वारा लिखित ग्रन्थरत्नों के सूक्ष्म मति संवेद्य अर्थ का ज्ञान अविचक्षण अविकसितप्रज्ञ मानव नहीं कर पाते। प्रत्युत वे उनका अनादर ही करते हैं। इससे उन अबुध मानवों का बुद्धिमान्द्य ही प्रकट होता है। स्वतः प्रमाण सत्य को किसी के द्वारा प्रदत्त मान्यतापत्र की आवश्यकता नहीं होती। सत्य तो सदा सत्य ही रहता है, उसे कोई मान्यता दे या न दे। भारतीय विद्वत्समाज में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के आदान प्रदान की परम्परा अनादि है। अतः प्रबुद्ध विद्वज्जन जो कुछ लिखते बोलते हैं वह विज्ञ पुरुषों के बुद्धि वैशद्य के लिये ही उपयुक्त होता है, न कि स्थूलदर्शी अप्रतिबुद्ध मानवों की सन्तुष्टि के लिये। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि उत्तम रचना का आनन्द सर्व जनसाधारण को मिल सके।

प्रमातृगत रुचिवैचित्र्य के अनुसार आनन्द तीन भागों में विभक्त किया गया है। दुःखशोकादि सम्वलित, सापेक्ष लौकिक विषयानन्द तथा रसास्वाद सुख पिण्डदान द्वारा कृत्याकृत्य प्रवृत्ति निवृत्ति बोधक, अलौकिक विभावादि जन्य विगलित वेद्यान्तर संस्पर्श ब्रह्मानन्द सहोदर

काव्यरसानन्द और विभावादि निरपेक्ष निरुपाधि स्वस्वरूपानन्दानतिरिक्त ब्रह्मानन्द। ये तीनों ही आनन्द यदि पृथक् पृथक् तत्तधिकारी पुरुषों को ही ग्राह्य होते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है।

शिव ब्रह्मन्नात्मन् सकलमपि विश्वं स्वकलया
जनुः सत्तापायान् हृदि महति नित्यं प्रणयते ।
प्रसन्न ! स्वच्छन्द ! स्वरमणकलाकोविद ! गुरो !
नमो मह्यं कस्मैचन हृदयनाथाय भवते॥४१ ॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - सगुण निर्गुणोभय ब्रह्मात्मैकत्व बुद्ध्या विनिर्गतनानात्व भ्रमादयद्वय सच्चिदानन्दात्मने स्वस्मै, अभेदेऽपि वन्दन भक्त्यर्थं भेदं प्रकल्प्य नमस्कुर्वते, आचार्यप्रवराः - अखण्डाद्वय सच्चिदानन्द परमात्मनः गुणानुरूपं त्रिरूपमास्थाय लोकसृष्ट्यादिकरणं तस्य लीला कैवल्य मात्रं नान्यत् तन्निदानं किमपीति "लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्", इति वेदान्तसूत्रसारमनुभूय लीलामय सृष्ट प्रपञ्चस्य, परब्रह्मात्मनि विवृतिं संवृतिं च सहैव विभाव्य जलतरङ्गवत्, सर्वाधिष्ठानभूतमखण्डचिद्घनानन्दं अहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थ लक्ष्यमात्मानमात्मना स्वप्रणति विषयी कुर्वते सूक्तिपद्येनाचार्यपादाः -

तथाहि - हे शिव ! सच्चिदानन्दाद्वय-परज्योतिः प्रकाशेन मायाभ्रमजाल संहारक, हे ब्रह्मन् ! महतोऽपि महत्तम कुलाल इवाखिल ब्रह्माण्डं भाण्ड रचनाकार लोकपितामह, हे आत्मन् ! सदा सर्वगत सर्वसाक्षिन् जगत्पालक विभो, प्रसन्न ! निरतिशय सुख स्वरूप, स्वच्छन्द ! स्वराट् स्वरमणकलाकोविद ! स्वयं स्वस्मिन् स्वेनैव रमणं क्रीडनं तत्र कला तद्विद्यात्मिका तत्र कोविदस्तदभिज्ञस्तत्सम्बुद्धौ। हे गुरो ! अज्ञानध्वान्त निरासपूर्वकं सर्व ज्ञान प्रकाशक, सर्वाद्येति साभिप्राय विशेषणैर्निर्विशेषस्यापि आत्मनोऽध्यारोपेण सम्बोधनम्। स्वकलया स्वचिदानन्दशक्त्या सदसदनिर्वाच्यरूपया स्वमायया, हृदि हृदयाकाशे सकलमपि सर्वमपि विश्वं व्यक्ताव्यक्त चिज्जडग्रन्थिरूपं सृष्टिप्रपञ्चं, यद्वा - "पादोस्य विश्वाभूतानीति-चतुष्पाद् ब्रह्मणः प्रथमं पादं प्रकल्प्य तत्र महति महत्तत्त्वेऽहङ्कारादि जनके समष्टि बुद्धिरूपे नित्यं सर्वकालं, जनुःसत्तापायान् सृष्टि स्थिति प्रलयान् सन्तापेतिपाठे - जन्मजराव्याधिमरणान्ताः सन्तापास्तेषामपायो मोक्षस्तान् वा प्रणयते, तेषां प्रणयनं कुर्वते, भवते तुभ्यं हृदयनाथाय हृद्देशेऽवस्थिताय हृदयाकाशपतये हृद्गुहामन्दिर स्वामिने कस्मैचन अनिर्वाच्यरूप गुणधर्माय, शब्दातीताय, अनुभवमात्र

वेद्याय, मह्यमद्वयात्मने नमः प्रह्वीभवनमिति।" "शुद्धचैतन्यरूपाय नित्यानन्दाद्वयात्मने" निर्विशेषाय शान्ताय मह्यमेव नमो नमः नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः अहं त्वं त्वमहं तेन मह्यमेव नमो नमः इत्यात्मनि सर्वसंवरणं विहितम्। अत्र साभिप्राय विशेषणैर्विशेष्य परिपोषात् परिकरालङ्कारः शिखरिणी च वृत्तम्। तल्लक्षणं पूर्वमभिहितम्।

भावार्थ—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा,
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।

एक मात्र सर्वत्र अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के ही समत्वज्ञान दृष्टि के द्वारा सगुण-निर्गुण रूप में परिज्ञात हो जाने पर मायाकृत नानात्व भेदभ्रम निरासपूर्वक विशुद्धानन्दाद्वयात्मक बोधवान जीवनमुक्त पुरुष सदैव अपने आप में आनन्दोद्रेक रसवाहिनी भक्ति भावना से उपास्योपासकत्व की प्रकल्पना करके प्रणतिपुष्प अर्पित करता है। इस स्वानुभूत तथ्य का दिग्दर्शन ही श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य द्वारा किया है। अथवा श्रीआचार्यपाद ने स्वयं अपने शुद्ध सच्चिदानन्दद्वय निर्विशेष शान्तात्मा में भोगापवर्ग प्रयोजनीभूत समस्त मायिक दृश्यप्रपञ्च का संवरण करके नित्य सिद्धसत्ता के स्वानुभवैक मात्र गोचर आत्मदेव को स्वकर्तृक नमन प्रस्तुत किया है।

अखण्ड अद्वय सच्चिदानन्द परमात्मा का, स्वमायाकृत गुणानुरूप ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक त्रिमूर्ति द्वारा किया गया विश्व सृष्टि, स्थिति, प्रलय प्रदर्शन, केवल मात्र स्वेच्छाकृत लीलाभिनय ही है। इस लीलाभिनय का प्रयोजन भी आसक्त तथा अनासक्त पुरुषों के लिये क्रमशः भोग, मोक्ष का दिग्दर्शन कराना ही है। इस लीलामय जगत्प्रपञ्च की विवृति तथा संवृति भी सृष्टि, स्थिति, प्रलय रूप से अखण्ड चिद्घनानन्द परमात्म तत्त्व में होती रहती है। वहीं सर्वाधिष्ठान है। महावाक्योपदेश द्वारा वह मैं ही हूँ, मुझसे अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है, एवं विद्य 'सोऽहमस्मीति' अखण्ड वृत्तिमान पुरुष सदा अपने आप को ही प्रणम्य मानकर स्वयं अपनी ओर से नमन करते हैं। तथाहि — हे ब्रह्मन्! महतोऽपि महत्तम् लोकपितामह, अखिल ब्रह्माण्ड रचनाकुशल कुलाल! हे शिव! जो लीला-नटराज, स्वाधिष्ठान में ही स्वेच्छा से समस्त चराचर जगत के उद्भव, स्थिति, प्रलय की मायामय लीला-संविधान के अद्वितीय रचयिता हैं, तथा जिनमें कल्पनावसन्न जीवनिकाय प्रलयरात्रि में सुषुप्त होकर पुनः सृष्टि के प्रभात में सक्रिय उन्निद्र हो जाता है, ऐसे सर्वाधिष्ठान स्वरूप हे शिव! हे आत्मन्! सदा सर्वगत, निरतिशय सुखरूप, सर्वस्वतन्त्र, आत्मरमण कलाप्रवीण अज्ञानध्वान्त निरासपूर्वक आत्मबोध प्रकाशक, हे सर्वाद्य गुरो! अपनी सदसदनिर्वाच्य मायाशक्ति द्वारा व्यक्ताव्यक्त चिज्जड ग्रन्थिरूप विश्वप्रपञ्च की सृष्टि, स्थिति तथा उपसंहति की अपने विस्तृत हृदयाकाश में ही रचना करने वाले हे

विश्वात्मन्! हृद्देश में सदा विराजमान रहने वाले हे हृद्गुहामन्दिर के स्वामिन्! अनिर्वाच्य लीलाहेतुक रूप गुण धर्माचाराभिनयदक्ष! शब्दातीत स्वरूप, अनुभवैकगोचर, मुझसे अभिन्न शुद्धचैतन्य स्वरूप भगवन आत्मदेव! आत्मोपासना विधिविहित प्रणति पुष्पाञ्जलि, आपके लिये आपके ही द्वारा समर्पित है। अध्यात्म भक्तिनिष्ठ आत्मोपासक पुरुष अपने आप में ही उपास्योपासकत्व की धारणा करके मायापुरी (भौतिक विग्रह) के हृदय पङ्कज पर विराजमान आत्मलिङ्ग शिव की आराधना श्रद्धा मन्दाकिनी निर्मल चित्त जलाभिषेक पूर्वक सहज समाधि पुष्प से इसलिये करते रहते हैं कि अपने निर्गुण निराकार निर्विकार निर्विशेष स्वरूप की निष्ठा अनवरत बनी रहे। थोड़ी सी भी असावधानी से संसार गर्तपात, सम्भव हो जाता है। हिन्दी कविवर का उद्बोधन —

कहीं क्रीडन केलिये नीड़ बने कहीं डोल हिंडोल रहे अग में।
धनयौवनरूप सनेहसुधा सभो मोहक साज सजा जग में ॥
यहाँ होश संभाल के पाँव धरो पड़ जाय न बेड़ी कहीं पग में।
तुम्हें बांधने के लिये, चित्त विहंगम !जाल अनेक बिछे जग में॥

निजां पितृपरम्परापरिचितां सतीं संस्कृतिं
नरा वलित बुद्धयो दुरवहेलोत्सार्य ये।
विदन्ति महतीं समुन्नति महो स्वकं ते शिरो
निकृत्य ननु मन्वतां प्रचुरमायुरासादितम् ॥४२॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - "येन ते पितरो याता येन याताः पितामहाः तेन यायात सतां मार्गं तेन गच्छन् न दुष्यति"। इति धर्म शास्त्रानुशसनात् - स्वपितृ परम्पराप्राप्त धर्माचरणायैव जनुर्ध्रियते जनैरिति विस्मृत्यानादृत्य च तद्विरुद्धमाचरतां जनानां मौढ्यमधः पतनं श्रेयोहानिश्च बोधयन्त्याचार्यपादाः।

ये केचन मानवा वलितबुद्धयः, परधर्मं भयावहमपि भ्रमात् दुःसङ्गवशाद्वा साधुमत्वा विपरीताचरण मतयः, पितृपरम्परापरिचितां, पितापितामहादिभिः स्ववंशनुक्रमेण परिचितां सदभ्यस्तां सतीं श्रेष्ठां निजां स्वीयां संस्कृतिं, वंशानुरूप धर्माचरण संस्कार मर्यादां दुरवहेलिया तुच्छत्व बुद्ध्या उत्सार्य परित्यज्य, महतीमुत्कृष्टां समुन्नतिं समुन्नयनं समृद्धि विदन्ति अवगच्छन्ति, अहो इति तन्मौढ्य सूचकमव्ययम्। ते जनाः स्वधर्म निरपेक्षतया विपरीतमाचरन्तो निजं शिर उत्तमाङ्ग निकृत्य स्वयं छित्वा प्रचुरं प्रभूतमायुर्जीवनसमय आसादितं लब्धमस्माभिरिति शेषः।

इति मन्वतां विजानन्तु ननु स्वदुर्दृष्टतया न तु वस्तुस्थित्या। अनर्थकर मार्गाश्रयेण स्वलाभातिशयमुत्प्रेक्षन्तां ते मूढ धियः। तानीदृशान् नियतिवशगान् निरयाधिकृतान् को निवारयेदिति भावः। "श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह" इति भगवदुक्तमजानाना दुर्धियोऽसत्सङ्ग दोषात् स्वधर्मसंस्कृतिमवमन्यन्ते चेत् तर्हि तेषामुभयलोक विनाशेऽवश्यं भावीत्याचार्यपादानामाशयः। असद्भोगवादिन एव धर्मनिरपेक्षतया भ्रष्टाचारिणो भवन्तीति विदां निश्चयः। अत्रेष्टसाधन प्रवृत्तस्य तद्विपरीतानर्थ प्राप्ति कथनात् विषमालङ्कारः। पृथ्वी नामकं वृत्तम्। जसौ जसयला वसुग्रह यतिश्च पृथ्वी गुरुरिति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि देव दुर्लभ भारतीय आर्य मानव जीवन की सार्थकता के लिये केवल श्रुतिसिद्ध सनातन धर्म से मर्यादित सत्संस्कृति का समाश्रयण ही श्रेयस्कर है। कुसङ्ग कुशिक्षा आदि से उपगत बुद्धिभ्रम-प्रमादादि दोष के कारण भारतीय मानव, यदि असद्भोगवाद जड़ीकृत मस्तिष्क होकर अभारतीय म्लेच्छ जन सेवित असत्संस्कृति का औचित्य स्वीकार करके पितृ परम्परा प्राप्त स्वधर्मानुरूप सत्संस्कृति का तुच्छत्वबुद्धि से परित्याग कर देता है तो उसका ईश्वरीय संविधान के अनुसार अधःपतन अवश्यम्भावी एवं अनिवार्य हो जाता है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर की संवैधानिक आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने वाला मानव घोर कष्टप्रद नरकलोकगामी होता है। श्रुति, स्मृति (मन्वादि धर्मशास्त्र) पुराण, तथा चिकित्साशास्त्र ये सब सर्वसमर्थ विश्वपति परमेश्वर का परमादर्श संविधान ही भारतीय मानवों का परम हितकर है। एतदर्थ ईश्वरीय संविधानोद्धृत वचन प्रामाण्य उपलब्ध होता है —

"श्रुतिस्मृती ममेवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्तते
आज्ञाच्छेदी ममद्वेषी नरकं प्रतिपद्यते।"
"पुराणं मानवोधर्मः साङ्गोवेदश्चिकित्सितम्
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हातव्यानिहेतुभिः ॥"

यह ईश्वराज्ञारूप सत्य शिव सुन्दर अनादि संविधान कभी प्रभावहीन नहीं होता। जो भी कोई कुतर्क के बल पर प्रभावहीन मान लेने का कुप्रयास करता है वह धोखा खाता है। वर्तमान परिदृश्य के अनुसार सर्वज्ञ सर्वसमर्थ ईश्वर के विशुद्ध संविधान में कोई आंशिक संशोधन भी नहीं किया जा सकता। इसीलिये श्री व्यासपाद ने भारतीय आर्य जन सेवित परम्परा प्राप्त ईश्वरीय संविधान की मान्यता के लिये मानवों को प्रेरित किया है —

येन ते पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न दुष्यति ॥

भारतीय आर्य मानव सदा उस सुसंस्कृत धर्म मार्ग पर चलते रहें कि जिस पर उनके पिता, पितामह आदि पूर्वज चलते रहे हैं। चतुर्विध पुरुषार्थ साधन रूप मानव शरीर की सफलता तथा सार्थकता इसी मार्ग में निहित है — "महाजनो येन गतः स पन्थाः"। परमेश्वर की असीम कृपा से प्राणी को मानव शरीर की प्राप्ति, पितृ परम्परागत धर्माचरण से सद्गति लाभ के लिये ही हुई है। अतः धर्म मर्यादित सत्संस्कृति की सर्वतोभावेन रक्षा कर लेने में ही भारतीय मानव की बुद्धिमत्ता है। इस तथ्य को श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य से समर्थित किया है।

जो भारतीय मानवं, कुसङ्ग, कुशिक्षा आदि से प्राप्त बुद्धिभ्रम के कारण अनर्गल भोगवाद के सङ्क्रामक रोग से आक्रान्त होकर अपनी परम्परा प्राप्त सदभ्यस्त श्रेष्ठ संस्कृति (धर्मनियन्त्रित नैतिक मूल्यों) का तुच्छत्वबुद्धि से परित्याग करके अपनी अधिकाधिक समुन्नति समझते हैं, वे मानों अपने शिर को अपने ही हाथ से काट फेंक कर अपना दीर्घजीवन सुरक्षित समझते हैं। वे मन्दबुद्धिजन यह नहीं जानते कि धर्मविरुद्ध अर्थ-काम मानव को समुन्नत नहीं करते, प्रत्युत उसका अधःपतन ही कर देते हैं। ऐसी स्थिति में कुसङ्ग प्राप्त बुद्धिभ्रम रोग के निवारणार्थ, सेवा सन्तुष्ट सद्गुरुप्रदत्त - ज्ञानाञ्जनशलाका का उपयोग, ज्ञानचक्षु उन्मीलित करने के लिये परमावश्यक एवं अनिवार्य माना गया है। पित्रादिगुरु परम्परोपगत सत्संस्कृति की दुरवहेला (अवमानना) धर्मनिरपेक्ष भ्रष्टाचारी दुर्नीति की ओर ले जाकर मनुष्य को असदाचरण के लिये विवश कर देती है। रावण के परदारहरण दुष्कर्म से क्षुब्ध श्री जानकीजी ने यही कहा था — अरे पुलस्त्य कुल कलङ्क रावण! तेरी नगरी में सद्गुरु का अभाव है, या फिर तूने सद्गुरु की सेवा करके उनसे सदाचार की शिक्षा ग्रहण नहीं की। अन्यथा कुत्सित आचरण की ओर तेरी बुद्धि नहीं जाती। **इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे। यथाहि विपरीता ते बुद्धिराचार वर्जिता॥** अतः पूर्वज परम्परा प्राप्त धर्मानुरूप सत्संस्कृति का परित्याग अत्यन्त अनिष्टकर होता है। अनार्य म्लेच्छ जनाभ्यस्त असत्संस्कृति, ऐहिकामुष्मिक सद्गति की बाधक होती है। म्लेच्छ शब्द धर्मनिरपेक्ष पद का पर्याय है। वेदविहित वर्णाश्रम धर्म निरपेक्ष जन जिस देश में रहते हैं वह देश म्लेच्छ देश कहा गया है–

वर्णाश्रम व्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते, स म्लेच्छ देशो विज्ञेयः .... श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य से यही विचार प्रकट किया है कि भारतीय आर्यमानव, म्लेच्छ सेवित दुर्मार्ग का परित्याग करके अनादि परम्परा प्राप्त स्वधर्मानुकूल सत्संस्कृति के समाश्रयण से मानव जीवन को सफल तथा सार्थक करें। यही निरापद मार्ग है —"एष निष्कण्टकः पन्थाः" अनार्य म्लेच्छ जनसेवित, अनर्थकर मार्ग का अनुसरण, लाभातिशय बुद्धि से करने वाले भारतीय मानव बुद्धिव्यामोह रोग से ग्रस्त हैं। सनातन संस्कृतिका अनुसरण आजीवन करना ही श्रेयस्कर है। **स्वधर्मे निधनं श्रेयः।**

सुतोऽपि भजते मुदा पतिपदं स्वमातुर्यदा
सगौरवमलं मदात् स्वमवगत्य विज्ञं सदा।
भवेद्यदि वदावदा नयनदीयमालम्बदा
वदन्तु ऋतमापदा पततु किं न राष्ट्रे तदा॥४३॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये— राक्षस धर्मेणापहरण वैवश्यादनेक शताब्दीषु भरण पोषणात् यावनांग्लजन भार्यात्वमुपेत्येदानीं स्वातन्त्रयमाप्ताया भारतीयजन जन्मदाया भारत राष्ट्र भूमेः पुत्रोऽपि कश्चिद् धर्म निरपेक्षतया तस्याः पतित्वं भजते नैतत् समञ्जसमित्याचार्यापादा विनोदभावनया भारत राष्ट्रपति माक्षिपन्ति। तथा हि- "भूमिर्मेमाता, पुत्रोऽहं पृथिव्या इति वेद प्रामाण्यात् - सर्वेऽपि भारतीया जना भारत राष्ट्र मातुः पुत्रा एव सन्ति। इति स्वं विज्ञं मन्यो राष्ट्र मातुः सेवकस्तत्पुत्रोऽपि कश्चित्"— "वन्दे मातरमिति" तां वन्दमानोऽपि सगौरवं मुदा स्वं राष्ट्रपति पदेन ख्यापयति। सर्वेऽपि नयज्ञाः सांसदास्तं धर्म निरपेक्षास्तथैव व्याहरन्ति, अतो यत्र सुतोऽपि मातुः पतिः स्यात् तत्र देशे दैव्यापदा कथं न पतेदिति विचारणीयं वृत्तमालोचकानां कृते। अत्राचार्यपादानां स्वविचारेण तस्मिन् राष्ट्र सेवकः राष्ट्राध्यक्षो राष्ट्रपालो वेति व्याहरस्यौ चित्यं राज्यपालवत् न तु राष्ट्रपति पदेनेति सूक्त्यर्थ विभावनात्प्रतीयते।

यदा यर्हि सुतोऽपि राष्ट्रमात्रा वसुन्धरया प्रसूतोऽपि जनः मदात् मदावेशात् स्व मात्मानं विज्ञं विशेषज्ञं सदा सर्व कालं सगौरवमवगत्य ज्ञात्वा मुदा हर्षेण सङ्कोचं विहाय स्वमातुर्भारत राष्ट्रमातुः पतिपदमलं भजते, साधिकारं तत्पतित्वमुरीकुरुते। यदि च इयं नयनदी धर्मनिरपेक्ष राजनीति धारावाहिनी संसद तं तथैव वदावदा भवेत्, तं राष्ट्रपति पदेन निरन्तरं व्याहरन्ती आलम्बदा तदौचित्य साहाय्यदात्री निर्विचारं भवेत्। यद्वा - नयं नदन्ति केवलं न तु ब्रुवन्त्याचरन्ति वेति नयनदास्तेषां समवायोनयनदी संसद, तस्य तथैवानुमोदनं समर्थनं कुर्यात् चेत्, तदा तर्हि राष्ट्रे भारत राष्ट्रे आपदा दैवी विपत जलप्लावन, वर्षावग्रह, वातातप, यानदुर्घटना, दुश्चिकित्स्यव्याधि, धनाभावादि त्रासदी कथं न पतेत्। जन धन विनाश ताण्डवोदयः कथं न सम्भवेदिति ऋतं सत्यं निष्पक्षं वदन्तु। आलोचका इति शेषः। यदीत्थमनुकरणीय चरिता अपि मातृ भार्ययोरभेदं मंस्यन्ते तदानुकर्तृणां का दशा भविष्यति। किमिदं राष्ट्रीयैकताया अखण्डताया वा निदर्शनमिति बुधा

विमृशन्तु। धर्म प्राणो यं देशः धर्माचरणमेव मानवान् पशुभ्यो व्यतिरेचयति। कथमेषा पूर्वज वानरादागता वानरी संस्कृतिरेव भारत राष्ट्रे साम्प्रतमाद्रिय ते तरामिति। अयमाचार्याणां शाब्दाधिक्षेपरूपो विनोद एव प्रतिभाति। यतोऽत्राधाराधेय सम्बन्धात् राष्ट्रपदेन राष्ट्रवासिनो जना लक्ष्यन्ते न राष्ट्रमाता, तेन तेषां पालकत्वेन राष्ट्रपति पदेन राष्ट्रपाल एवाभिधीयते न तत्र दोषाशङ्कावसर इति। अत्र राष्ट्रपति पदार्थस्यान्यथा योजनाद्वक्रोक्तिरलङ्कारः। पृथ्वी च वृत्तम्। लक्षणं पूर्वमुक्तम्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा अन्यार्थ योजना पूर्वक राष्ट्रपति पद के अर्थ को व्यंग्य का माध्यम बनाकर जनप्रतिनिधियों का स्वभावगत लोक निन्दित दुराचारत्व इंगित किया है। योगियों के निर्मल हृदय के समान कविजनों की वाणी सदा निर्दोष तथा शुचितम कही गई है। "योगिनां हृत् कवेर्वचः परं शुचितमम्"। इसलिये कवियों का निरङ्कुशत्व सर्वजन मान्य ही होता है।

सूक्तिपद्यगतभावार्थ - **भूमिर्मे माता पुत्रोऽहं पृथिव्याः** वेदवचन प्रामाण्य से, भारत वसुन्धरा कुक्षिप्रसूत सभी भारतीय मानव भारतराष्ट्र माता के पुत्र हैं, किन्तु इस उदात्त भावना के विपरीत यदि स्वयं राष्ट्राध्यक्ष महोदय, अपने आप को राष्ट्रपति शब्द के द्वारा भारत राष्ट्रमाता के पति के रूप में प्रस्तुत कर अपनी अन्तरात्मा में सगौरव प्रहर्ष का अनुभव करें तथा उनके अनुयायी जन उनको राष्ट्रपति पद से सम्बोधित करते रहे तब क्या यह अनैतिक व्यवहार उचित कहा जाना चाहिये? विचारपूर्वक उचित अनौचित्य का सप्रमाण निर्णय कराना आलोचकों पर छोड़ते हैं। "वन्दे मातरम्" राष्ट्रगान से भारतमाता की वन्दना करने वाले मातृभक्त को यह शोभा नहीं देता कि वह माता का पति बन जाय। जहाँ अनुकरणीय चरित प्रधान पुरुष ही माता का पति बनने में गौरव समझेंगे, वहाँ इस अधर्माचरण के फलस्वरूप दैवी आपदायें जलप्लावन, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वातातपपीड़ा, भूकम्प, भूस्खलन, हिंसातङ्क, विमानादि दुर्घटना, असाध्य दुश्चिकित्स्य रोगाक्रमण, धनाभावादि त्रासदी के रूप में क्यों न आपतित हों, धन जन विनाश की अधिकाधिक सम्भावना क्यों न हो! जब अनुकरणीय चरित पुरुष ही माता तथा भार्या में भेद नहीं समझें, तब अनुकर्ता जन समुदाय की क्या दशा होगी? क्या यह धर्मनिरपेक्ष भ्रष्टाचारपरायण अखण्डता का ही निदर्शन माना जाय? अथवा उत्तराधिकार प्राप्त पूर्वज वानरों की संस्कृति को ही भारत राष्ट्र में भी आदरास्पद करने का प्रयास माना जाय।

यह भारत राष्ट्र सदा से धर्मप्राण देश रहा है। धर्माचरण ही मानवों को पशु पक्षियों से भिन्न सिद्ध करता है— "धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः।" यह कैसी विडम्बना है कि विदेशी आक्रान्ताओं ने भारत राष्ट्रमाता का अपहरण करके वर्षों तक अपने अधीन रखा तब तक राष्ट्रमाता के पुत्र सब सुषुप्त बने रहे तथा निद्राभङ्ग होने पर शौर्य, वीर्य, पराक्रमोत्साह सम्पन्न मातृभक्तों के सामूहिक संगठन के उत्कट त्याग, तपस्या आत्मोत्सर्ग के द्वारा जैसे तैसे स्वतन्त्र हुई राष्ट्रमाता

के कोई पिता कोई चाचा कोई पति बन जाएँ। अन्य सब मातृभक्त प्रायः निर्विचार मुद्रितनेत्र होकर सेवाधर्म निष्ठा से केवल धर्मनिरपेक्ष भ्रष्टाचारी नेतृत्व का समर्थन जुटाने में ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझने लगें। परिणाम गामिनी बुद्धि का उपयोग नहीं किया जा सका, सम्भवतः यह समझकर कि **होय वही जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावहिं साखा।**

यह सब श्री आचार्यपाद के सूक्तिपद्य से अभिव्यक्त शब्दाक्षेप जनप्रतिनिधि राजनेताओं के आचार-व्यवहार पर सटीक व्यंग्य मात्र है। अन्यथा राष्ट्रपति पद से राष्ट्रवासी जन तथा राष्ट्र की परिसम्पत्ति का पति रूप अर्थ लक्षित होता है। अतः राषट्रवासी जन समुदाय तथा राष्ट्र सम्पदा के संरक्षक (पालक) किसी विशिष्ट पुरुष को ही राष्ट्राध्यक्ष, राष्ट्रपाल, राष्ट्रपति पद से अभिहित किया जाना संवैधानिक नियम है। यहां परिणेता पति रूप अर्थ ग्राह्य नहीं है। अतः पदगत दोषान्वेषण लक्ष्य नहीं है। राष्ट्रीय सर्वोच्च संसद (सभा) का पति होने से सभापति शब्द के समान राष्ट्रपति पद निर्दोष ही है। जैसे नृपति, धनपति आदि शब्द। यदि कोई स्त्री सभा या राष्ट्र का आधिपत्य ग्रहण करती है तो वह भी सभापति, राष्ट्रपति पद से व्यवहृत होगी। पति शब्द त्रिलिङ्ग माना गया है — **१. पुल्लिङ्ग सीतापतिः, २. स्त्रीलिङ्ग - ग्रामस्य पतिरियं ब्राह्मणी, ३. नपुंसक - अन्नद्ध साम्राज्यानामधिपति। अतः राष्ट्रपति पद विप्रतिपत्र नहीं है।**

पदं समुपलभ्य ये जगति मानवं दानवीं
श्रयन्ति पदवीं नरा निज हृषीक वेगोद्धताः।
शिवाय विभवाय वा भवति किन्तुतेषां नयो
वदन्तु सकला जनाःस्वशपथेन पृथ्वीं श्रिताः॥४४॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये— ये देवदुर्लभं सद्गति साधनं मानवत्वं प्रपद्यापि जना दानवीय स्वभावमाश्रित्य परानुत्तापयन्ति ते पापाय परपीडनादिकं विदधानाः स्वस्य परस्य वा कस्यापि ऐहिकमभ्युदयं परत्र च श्रेयोलाभं कर्तुं न प्रभवन्ति। ते नराधमा विफलीकृत नरजन्मानो गर्हणीया एवेति स्वमनीषित मुदीरयन्त्याचार्य प्रवराः —

जगति संसारे ये केचित् दुर्धियो नरा अखिल बन्ध विमुक्ति साधन हेतु भूतं कादाचित्कभगवत्कृपा प्रसादीकृतं मानवं पदं, पौरुषं शरीरं समुपलभ्य सम्प्राप्य निज हृषीकाणां रागद्वेषाभिनिवेश वशादसत्पथ प्रवृत्तेन्द्रियाणां वेगेन तत्त-द्विषयाकर्षणरयेण उद्धता उच्छृङ्खल मनोवृत्तयो भूत्वा दानवीं पदवीं, स्वार्थ सिद्ध्यै परप्रतारण पीडन हिंसादि दुष्टाचरणात् दानवोचित सरणिं श्रयन्ति। "दानवोऽयं न

मानव" इति लोके कुत्सित संज्ञां लभन्ते, तेषां नराणां नयः आचरणनीतिः किं शिवाय लोकप्रशस्ति पूर्वकमात्मकल्याणाय वा उत विभवाय भ्रष्टाचार समर्जित गर्हितैश्वर्याय, यद्वा विनष्टो निरर्थको भवः मानव-जन्म, तस्मै व्यर्थीकृत नरजन्मने, कुत्सिता चरणेष्वेव कालक्षेपाद्धेतोः। अनयोः कस्मै प्रयोजनाय भवति नु। इति पृथ्वीं श्रिता भूलोक वासिनः सकलाः सर्वेजनाः स्वशपथेन निष्पक्षतया वदन्तु निर्णयन्तु। यद्वा पृथ्वीं श्रिताः पृथ्वी वृत्त भाषितामिमां सूक्ति विदन्तो जना यथार्थतया निर्धारणं कुर्वन्त्विति।

अत्र मानवजन्मवतामसद्वृत्युपार्जित कामोपभोग परमत्वमुचितमथवा चराचरात्म भगवत्सेवामार्गेण स्वसंस्कृत्यनुरूप धर्माचरणेन परमपद लाभः श्रेयानिति विवेकदृशा विवेचयन्त्वित्याशयः। अत्रेदं तत्त्वम् – भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता इति बुद्धा भोगवादितां निरस्य हृदिस्थितान् बन्धकरान् कामान् कामः सर्वात्मना त्याज्य इत्युपदेशमालम्ब्य परित्यजेत्। "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिस्थिताः तदामर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुते। अत्रैव मानव शरीरे इति।" अथवा कामयेत चेत् तर्हि मुमुक्षां कुर्यात्, तेनापि मरणधर्मा अमृतत्वमश्नुते। इति मानव जन्मप्रयोजनममरत्व लाभ एवं नान्यत्। भोगास्तु पश्वादि शरीरेष्वपि प्राप्यन्ते, भोगवादी तु धर्म निरपेक्षतया भ्रष्टाचार परायणः सन् नृपशुतामेवात्मनिधन्ते। इति लोक कल्याण भावनया आचार्यपादा जनानुपादिशन् सूक्तिपद्य द्वारा अत्रोत्कृष्ट गुणवन्मानवत्वस्याग्रहणात् तन्यून गुणदानवत्वस्य स्वीकारोक्त्या अतद्गुणोऽलङ्कारः। पृथ्वी च वृत्तमत्र। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य से असद्विषय विरस, सदसद्विवेक मतिमान पुरुषों को यह उद्बोधन दिया है कि वे आत्मोद्धारार्थ भगवत्कृपा प्राप्त मानव जीवन का सदुपयोग, चराचरात्म भगवत्सेवाधर्म के लिये ही करें। आसुरी मनोवृत्ति से सदा सावधान रहें। धर्म प्रधान विश्व में अनादिकाल से उत्पन्न विनष्ट होते रहने वाले पशु पक्षी वृक्ष कीट पतङ्ग, सरीसृपादि शरीरधारी प्राणियों को भगवदिच्छा से ही भगवत्कृपा प्रसाद के रूप में साधन धाम मुक्तिद्वार देवदुर्लभ मानव शरीर की प्राप्ति सम्भव होती है। स्वर्गापवर्ग सिद्धिसाधन रूप मानव देह की प्राप्ति बार-बार नहीं होती। **"कबहुं कि करुणाकर नर देही, देत ईस बिनु हेतु सनेही।"** शुभ अदृष्ट वश सम्प्राप्त मानव शरीर का दुरुपयोग, यदि दुर्बुद्धि मानव कुसङ्ग, कुशिक्षा प्रभावित दानवीय स्वभाव से विवश होकर लोक निन्दनीय पापकर्मों में ही करते हैं तो वे अत्यन्त शोचनीय हैं। ऐसे पापकर्मा नराधम, सद्गति प्रापक अन्तिम सोपान (मानवशरीर) तक पहुँच कर भी दुर्भाग्यवश अवाङ्मुख होकर अधःपतित हो जाते हैं। अपने

ही दुराचरण से अपना ही सर्वनाश कर लेते हैं। जबकि उन्हें अपने आत्मोद्धार के लिये स्वयं सतत प्रयत्नशील होना चाहिये था। किन्तु वे अपने आपको ही विपरीताचरण द्वारा अपना दुर्गतिदायक शत्रु बना लेते हैं। यह पौरुष शरीर भगवत्प्राप्ति का प्रमुख साधन होने से भगवान को अति प्रिय है।

इसलिये सर्वात्मा सर्वेश्वर भगवान वासुदेव ने अपने गीतोपनिषद् ग्रन्थ में मानवहित की दृष्टि से उद्बोधन वचन दिया है — **"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानवसादयेत्, आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः"** सांसारिक सभी कार्यों को भले ही किसी दूसरे के भरोसे पर छोड़ दें, परन्तु आत्मोद्धार कार्य किसी अन्य पर न छोड़कर स्वयं उस का दायित्व सावधानी से सभालना चाहिये। इसके विपरीत जो असद्विषय वासना वशीकृत, कुत्सित, मनोवृत्ति वाले प्राकृत पुरुष, छलकपट हिंसा पर प्रतारण परपीड़नादि असदाचरण द्वारा असत्पथ प्रवृत्त इन्द्रियों को खुली छूट देकर पापाक्रान्त दानवोचित मार्ग पर चलते हुए केवल मात्र पापों का ही संग्रह करते रहते हैं, क्या वे आत्मकल्याण या अनन्तभोगसम्पदा प्राप्त कर सकते हैं। क्या वे अपनी जघन्य दुष्प्रवृत्ति से अपना या पराया हितसाधन कर सकते हैं। सदसद्विवेकी पुरुष स्वात्म साक्षित्व देकर सप्रमाण सयुक्तिक सोदाहरण यथार्थ विचार करें। क्या यह मानव जन्म असद्वृत्युपार्जित धनादि के द्वारा केवल मात्र इन्द्रिय तृप्ति के लिये है, या फिर स्वधर्माचरण पूर्वक भगवत्पद सेवा से परम पद प्राप्ति के लिये है। मानव जन्म का प्रयोजन तो केवल अमर पद प्राप्ति है, न कि पिष्टपेषणवत अनेक जन्मों में भोगे जा चुके सांसारिक विषयों की पुनर्भोगावाप्ति। सुख-दुःखादि भोग तो पर्यायेण प्रारब्धवश पश्वादिशरीरों से भी यथा समय उपलब्ध होते रहते हैं, फिर मनुष्य पशु में अन्तर ही क्या रह जायेगा। श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा मानवजीवन की सफलता तथा सार्थकता के लिये विशेष रूप से विचारशील पुरुषों को उद्बुद्ध किया है। **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।**

आपादान्तं पतिविरहजं पाण्डिमानं दधानां
कान्ते पत्यौ मतिमति गते राजहंसि प्रवासम् ।
चञ्चुशोणां चरणयुगलं चापि शोणं वहन्ती
सन्देहं त्वं हर सखि कथं शंसितुं शक्नुया माम्॥४५॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये — काचित प्रोषितभर्तृका नायिका पतिं प्रति स्वविरह व्यथातिशय सन्देश प्रेषणाय नियुक्तां पालितां राजहंसीं तत्र गमयन्ति तां ब्रवीति - विरहवेदना सन्देश दानानुकूलस्तव वेशविन्यासो नास्ति तं तथा कृत्वैव तत्र गच्छ, अन्यथा मत्सन्देशः प्रभावी न स्यादिति नायिका मुखेनाचार्यपादा भङ्ग्यन्तरेणेत्थं प्रस्तुवन्ति —

हे सखि राजहंसि सखीति सम्बोधनेन तद्दुःख दुःखितात्वं राजहंस्या ध्वन्यते। राजहंसीति सम्बोधनेन तस्याः श्रेष्ठकुल सम्भवात् विश्वसनीयता चातुर्यञ्च व्यज्यते। कान्ते, प्रियतमे मदनुरागाविष्ट चित्तत्वात् स्पृहणीये मतिमति, मतिरस्ति यस्य स तस्मिन् अतिचतुरे, अर्थात् - स्वप्रातिभ संस्कारातिशयात् अनुक्तमपि तव वेशदर्शन मात्रेण मद्विरह वेदनासन्देशं वेत्तुं क्षमे, प्रवासं गते, अपरिहार्य कार्य वशादेव प्रोषिते पत्यौ मम प्राणवल्लभे मद्विरह सन्देश कथनायोद्युक्तापि त्वं- शोणां चञ्चूं, ताम्बूल रागरञ्जितं मुखं, अपि च चरण युगलं स्वपादयुग्मं शोणं लाक्षारस रागरञ्जितं वहन्ती धारयन्ती सती पतिविरहजं पाण्डिमानं पाण्डुरत्वमापादान्तं मुखादारभ्य पादपर्यन्तं दधानां धारयन्तीं मां, पति वियोग व्यथित स्वान्तदेहां कथं केन प्रकारेण शंसितुं मद्व्यथां सूचियतुं शक्नुयाः समर्था भवेरिति मे सन्देहं संशयं हर दूरीकुरु, सन्देशहरणात्पूर्वमेवेत्याशयः। अत्र नायिका दुःख दुःखितायाः सन्देश हराया राजहंस्या अपि तत्समसुखदुःख स्वभावत्वात् सर्वाङ्ग शौक्ल्यमपेक्ष्यते। तेन प्रवासी कान्तः सन्देशहरायाः सख्या अपि वेदनानुकूल वपुर्दर्शनेनैव विरह वेदनार्तायाः स्वकान्तायास्त्यक्तताम्बूल रागं मुखं, त्यक्तलाक्षारागञ्च चरण युगलं झटिति ज्ञास्यतीति ध्वन्यते। अत्र राजहंस्याः शरीरं तु शुक्लमेव स्वभावतः, तस्याश्चञ्चु चरणगत शौक्ल्याभावात् नायिकायाः सर्वाङ्ग शौक्ल्यं विरह वेदनाकृतं ज्ञानतुमनर्हं स्यादिति भावः। प्रायणैतत् कवि सम्प्रदाये दृश्यते - यत् नायिका पालिता मृगपक्षिणोऽपि तत्समसुखदुःख वेदिनो भवन्ति। यथा— कालिदासकृतेऽभिज्ञान शाकुन्तले "कण्वाश्रमस्थ समस्त मृग पक्षिवृक्षाः शकुन्तला विरहार्ता बभूवुः - उद्गलित दर्भकवला मृग्यः, परित्यक्तनर्तना मयूरा अभूवन्। अपसृत पाण्डुपत्रा लता अपि अश्रूणि व्यमुञ्चत।" तद्वदत्रापि राजहंस्यास्तादृशी मनोदशा काय दशा च युज्यत् एवेति। यथा- प्रियाधरमाधुर्यं लेखबद्धं कुर्वतः कवेः करगतलेखन्यपि इक्षुदण्डायते, तथा विरह वेदनामावेद यन्त्या राजहंस्या अपि सर्वाङ्ग वैवर्ण्यं नायिकाङ्गसमं प्रकरणानुकूलमेव।

अत्र विप्रलम्भशृङ्गार रसः प्रवास हेतुको व्यंग्यः असम्बन्धे सम्बन्ध रूपातिशयोक्तिरलङ्कारः। राजहंस्याश्चञ्चुचरणयोर्नैसर्गिक शोणत्वेऽपि ताम्बूल-लाक्षाजन्य शोणत्वस्य तत्रोत्प्रेक्षित त्वादुत्प्रेक्षालङ्कारः। भिन्न देशावस्थित हेतु फलयोर्विशेषाभिधित्सया एकत्र कथनादसङ्गतिश्च। मन्दाक्रान्ता च वृत्तम्। मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं न तौ ताद्गुरु चेत्, इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा प्रोषित भर्तृका - नायिकानिष्ठ विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन प्रस्तुत किया है। विप्रलब्धा नायिका ने अपने प्रवासी पति के समीप, पालित पोषित राजहंसी को स्व-विरह व्यथातिशय सन्देशहरा दूती के रूप में भेजने के उद्देश्य से राजहंसी को भी विरहवेदना सन्देशानुकूल वेशविन्यास की अत्यावश्यकता पर बल देते हुए उसे वैसा करने को प्रेरित किया है। हे सखि राजहंसि! तू मेरी पति विरह वेदना को भलीभांति समझती है, उत्तम कुल में जन्म लेने के कारण परम चतुर तथा विश्वसनीय है, इस विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं। परन्तु मुझ विरहिणी के विरह सन्देश का वहन करने योग्य तेरा वेश्व विन्यास नहीं प्रतीत होता। असह्य विरह वेदना से मेरे शरीर का उज्ज्वल वर्ण अपनी स्वाभाविकता खेकर पादादिमस्तकान्त पाण्डुर हो गया है, तथा तेरे भी शरीर का नैसर्गिक पाण्डु वर्ण समानतया मेरे दुःख की सहानुभूति का ही सूचक है, किन्तु मेरे ताम्बूल-रागशून्य मुख तथा लाक्षारसरागशून्य चरणों के समान तेरे मुख तथा चरण रागरहित नहीं है। वे रक्तवर्ण ही है। देह की पाण्डुरता के समान तेरे चंचु-चरण भी पाण्डुर ही होते, तब तू मुझ विरहिणी की प्रतिमूर्ति होकर मेरा विरहवेदना सन्देश मेरे प्रिय पति तक पहुँचाने में पूर्ण सक्षम हो सकती थी, अन्यथा नहीं। तेरे इस वेशविन्यास को देख मुझे सन्देह है कि तू पूर्ण कृतकार्य होकर लौटेगी या नहीं। क्योंकि मेरा प्रवासी पति अति चतुर प्रतिभाशाली पुरुष है। तेरे इस प्रतिकूल वेश को देखकर मद्गत विरह पीड़ातिशय का बोध उसे नहीं हो सकेगा। अतः मद्दुःखानुभव सहयोगिनी होने से तेरी भी सर्वाङ्गीण शुक्लता अपेक्षित है। मेरी प्रतिच्छाया की भांति तुझे सर्वशुक्ला देखकर ही मेरा पति मेरी असह्य विरह वेदना का सही अनुमान कर सकेगा कि जब विरहिणी की सखी राजहंसी के मुखचरण तक ताम्बूल-लाक्षारसादित्याग-व्रत कर रहे हैं तब विरहिणी की क्या दशा होगी! मेरा-तेरा विम्बप्रतिबिम्ब भाव होना चाहिये कि जिससे मेरा पति तेरे शरीर में मेरी विरह वेदना का प्रतिबिम्ब देखकर प्रवास से शीघ्र लौटने को विवश हो जाय। तब तो तेरा विरह सन्देश समर्पण प्रयास फल हो जायेगा, अन्यथा विफल।

श्री आचार्यपाद ने कवि सम्प्रदायसिद्ध मार्ग द्वारा विप्रलम्भ शृंङ्गाररस को सूक्तिपद्य से प्रस्तुत किया है। कवियों के संसार में, नायिका के द्वारा पालित पशुपक्षीलता प्रभृति भी नायिका के विरह दुःख से व्याकुल देखे गये हैं जैसे **अभिज्ञान शाकुन्तल में महाकवि कालिदास द्वारा शकुन्तला विरहार्त मृग पक्षी लताओं की करुण दशा का वर्णन प्रस्तुत किया गया है— "मृगों ने घास चरना छोड़ दिया, मयूरों ने नाचना त्याग दिया, लतायें पीले पत्तों से आंसू बहा कर रो रही है।"** इसी प्रकार प्रकृत सूक्ति पद्यार्थ में कवि सम्प्रदायगत नियम का सहारा लिया गया है। जब प्रिया के अधरमाधुर्य को लेख बद्ध करने वाले कवि की लेखनी लिखते लिखते इक्षुदण्ड हो जाती है — **"प्रिया अधर की मधुरता बरनत मधु न तुलाय, लिखत लिखत ही हाथ की कलम ईख है जाय"**। तब तो विरहवेदना सन्देश वाहिनी राजहंसी का भी सर्वाङ्ग शुक्ल शरीर वैवर्ण्य प्रकरणानुकूल उचित ही माना जाना चाहिये। विरहिणी नायिका की प्रिय विरहदुःख पराकाष्ठा की अभिव्यक्ति के लिये उसकी समप्राणा सखी राजहंसी का

भी शरीर रक्तकणरहित श्वेत वर्ण का होना ही चाहिये, चंचु चरण भी रक्त न होकर श्वेत ही होने उचित हैं। क्योंकि सन्देश वाहकदूत या दूती का आंगिक आहार्य वेश विन्यास सन्देश वार्ता के अनुरूप ही होने से कार्य की सफलता सुनिश्चित समझी जा सकती है। जैसे तीव्रक्षुधा के अभाव में भोज्यान्न का आस्वाद तथा पूर्णपिपासा के अभाव में जल की स्वादुता का पूर्ण अनुभव नहीं होता, वैसे ही सामयिक विप्रलम्भ के विना संयोग शृङ्गार की भी पूर्णता सम्पन्न नहीं होती। विप्रलम्भ एक प्रकार का तपोऽनुष्ठान ही है कि जो अभीष्ट सिद्धि की साधन प्रक्रिया के रूप में माना गया है। **तपसाखिल सिद्धिः।**

तन्वी श्वेताऽधरकरपदा पाण्डु विच्छायवर्णा
कान्ता काचित् पतिविरहिणी राजहंसीं ब्रवीति।
चञ्चु शुक्लां चरण युगलं चापि कृत्वाथ शुक्लं
सन्देशं मे नय पति मये दैवविश्लेषितायाः ॥४६॥

व्याख्या— **आपादान्तमित्यादि पूर्व सूक्ति पद्योक्तार्थमेव सुस्पष्टयितुमिदं सूक्तिवाक्यं प्राहुराचार्यपादाः –**

काचित् पूर्व सूक्तिपद्य सङ्केतिता तन्वी, पति विरह कृश शरीरा, श्वेताधर करपदा, सिताधरोष्ठ हस्तपादा, पाण्डुर्धवलो विच्छायो विगत पूर्वावस्थो वर्णो यस्याः सा, पतिविरहिणी प्रोषितपतिका, कान्ता नायिका, राजहंसीं स्ववियोगवेदनातिशय सन्देश वाहिनीं मरालीं ब्रवीति इत्थं बोधयति – अये राजहंसि! चञ्चूं शुक्लां चरण युगलं च शुक्लं कृत्वा, आत्मन इति शेषः। ताञ्च तञ्च मद्देह सवर्णीकृत्य, अहमिव त्वमपि सर्वाङ्गशुक्ला भूत्वा, यद्वा- शुचं विरह वेदना सन्देशं लाति इति शुक्लां चञ्चूं तद्वदेव चरण युगलं चापि शुक्लं विधाय, सन्देशवहन कर्मणि मुखचरणानामेव वचन-गमन कार्यत्वे हेतुत्वम्। दैव विश्लेषितायाः, दुरदृष्ट वशात् पतिवियोगमापन्नायाः, मे मम सन्देशं मद्दयनीय दशावृत्तं पतिं मत्प्रियतमं प्रतिनय प्रापय। सर्वशुक्लां त्वां मे प्रिय सखीं वीक्ष्य ममैतादृशीं दशां स झटिति विभावयेत् तथा कुरु इतिभावः। अत्र कार्श्य चिन्ता वेग विषादादि भूतभावानां नायिकागतानां पत्युः सत्वरमागमनरूप भाविभावस्य कवेरभिप्रायगतत्वाद्भाविकमलङ्कारः। मन्दाक्रान्ता च वृत्तम्। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— आपादान्तमित्यादि पूर्व सूक्तिपद्य प्रोक्त-प्रोषितभर्तृकानिष्ठ विप्रलम्भ श्रृंगार व्यञ्जक अर्थ को और अधिक सुस्पष्ट करने के विचार से श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्ति पद्य की रचना की हैं – पूर्व पद्य सङ्केतित प्रोषितपतिका, पति के वियोग से

व्याकुल चित्तवाली, कृशाङ्गी, विरह पीडाजनित शरीर मानस अस्वस्थता के कारण जिसके अधरोष्ठ हस्त पद नितान्त विषादजनित रक्ताभाव से आभाहीन श्वेतवर्ण हो गये हैं, ऐसी विप्रलब्धा नायिका, अपने पति के पास विरह वेदना सन्देश पहुँचाने के लिये अपनी प्रेष्या राजहंसी को विरह वेदना सन्देश वहन कार्य के अनुकूल वेश रचना प्रकार समझाती हुई कह रही है - अये राजहंसि ! मेरी पति-वियोग पीड़ित गात्रयष्टि के समान तेरा शरीर तो स्वभावतः शुक्लवर्ण का ही है, केवल चंचु तथा चरण युगल श्वेत नहीं है। इन्हें भी लालिमा हटाकर श्वेत वर्ण के कर ले, तभी तू कृतकार्य होकर लौटेगी। तेरी सर्वाङ्ग शुक्लता को देखकर ही तुझको मद्दुःखदुःखिता समझ कर मेरे सर्वाङ्ग वैवर्ण्य का यथार्थ बोध मेरे पतिदेव को हो सकेगा, अन्यथा नहीं। मेरे प्रतिकूल दैव ने ही कोई अपरिहार्य कारण उपस्थित कर दिया जिससे विवश होकर मेरे पतिदेव को प्रवासगमन करना पड़ गया, अन्यथा स्वप्न में भी वियोग न सहन करने वाले मेरे प्रियतम प्रवास की बात भी नहीं सोच सकते थे। अतः तू मेरी प्रिय सखी है, मेरी इस दयनीय दशा की सूचना शीघ्रातिशीघ्र मेरे पति को पहुँचाने का प्रयास कर। चंचु तथा चरण युगल के शुक्ल विशेषण का अन्य अर्थ भी किया जा सकता है।

"शुचं लातीति निर्वचन से - वियोगाधि वेदना सन्देश रूप शुक (श्रवणानर्ह समाचार) को लाने ले जाने में मुख तथा चरणों की ही प्रमुख भूमिका होती है। सन्देश कथन कार्य में मुख की, तथा तदर्थ गन्तव्य स्थान तक गमन कार्य में चरणों की सहायता अपेक्षित होती है। अतः हे राजहंसि तू मेरे विरह वेदना सन्देश वहन कार्य में अपने शुक्ल चंचु चरणों को अन्वर्थ सिद्ध कर, ऐसा आचरण कर जिससे मेरे पतिदेव मेरी चिन्तनीय अस्वस्थता को भली-भांति समझ कर त्वरित प्रवास से लौट सकें। तभी तेरा चातुर्यपूर्ण विरह वेदना संदेश वहन कार्य कौशल असन्दिग्ध अत्युत्कृष्ट माना जा सकेगा अन्यथा नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि तू दौत्यकर्म निष्णात है, अतः अवश्य तेरा प्रयास सफल सिद्ध होगा। इस पद्य के द्वारा विप्रलब्धा नायिका का प्रकृति-कार्पण्य उपवर्णित है।"

ये स्निह्यन्ति मयि प्रसन्नहृदया वन्द्यास्तु सन्त्येव ते
नो स्निह्यन्त्यथ येऽपि कारणवशात् तेभ्योऽपि सद्भ्यो नमः।
लाभालाभ जयाजय प्रभृतिषु द्वन्द्वेषु साम्यं गतं
स्वात्मानन्द महार्णवे मम मनो मग्नं यतस्तिष्ठति ॥४७॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये — सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन, आत्मैवेदं सर्वम्, मायामात्रमिदं जगदिति क्वचिदपि रागद्वेषादि शून्यत्वात् शुद्धान्तःकरणानां समत्वयोगिनामात्मनिष्ठानां सर्वत्र मित्रोदासीनशत्रु भावापन्नेषु जनेषु समदर्शित्वमावेदयन्तयाचार्यपादाः —

यतो यस्माद्धेतोर्ममनोन्तःकरणं, सर्व सङ्कल्पविकल्प तदायत्त व्यापार शून्यत्वात् लाभालाभ जयाजय प्रभृतिषु द्वन्द्वेषु, समस्तवस्तु प्राप्त्य-प्राप्ति मानापमानादि युग्मेषु साम्यं गतं, समतामुपगतं सत्, स्वात्मानन्द महार्णवे, स्वात्मविश्रान्ति सुखसागरे मग्नं, तदेकीभूतं तिष्ठति, तस्माद्धेतोः - ये जनाः प्रसन्न हृदयाः स्वभावतः प्रीतहृदयाः सुहृदोमयि सर्वात्मत्वमुपगते स्निह्यन्ति मेघन्ति, ते जनास्तु वन्द्या आदरणीया एव, मैत्रीभावस्योत्तम मानवीय गुणत्वात् ते श्लाघ्या एव सन्ति। अपि च अथेति पक्षान्तरे ये कारणवशात् - "न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः।" कारणादेव जायन्ते मित्रोदासीन शत्रव" इति लोक व्यवहार दर्शनात् मयि नो स्निह्यन्ति, अथ च प्रसङ्गानुरोधात् — ये अकारणमपि निसर्गतः एव स्नेहप्रवृतिराहित्यात् परद्रोहधियो जनाः, "मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः। त्रयस्तस्यापि जायन्ते मित्रोदासीनशत्रवः।" मृग मीन सज्जनानां तृणजल सन्तोषविहित वृत्तीनाम्। लुब्धक धीवर पिशुना निष्कारण वैरिणो जगतीति चाक्षुष श्रावण प्रत्यक्षमुपगताः सन्ति, ते मयि समदर्शित्वात् निवृत्त शत्रु मित्रभावेऽपि नो स्निह्यन्ति, नैसर्गिक परोत्तापकर दुःस्वभाव वशात् परहितं निरर्थकं निघ्नन्ति, तेभ्योऽपि सर्वेभ्यः सद्भ्यो, जितक्रोधतपस्विजनानां कृते निकषग्राव रूपत्वात् सुश्लाघनीयेभ्योऽपि, नमः प्रणतिरस्तु मे इति शेषः।

यतः "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो न मत्प्रिय" इति। सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते। इति च भगवदुपदिष्ट मार्गाश्रयणात् निवृत्त रागद्वेष प्रवृत्तिरहमिदानीं जात इत्याशयः। अत्र सद्भ्य इति पदेनेदमाकूतम् - सूक्तिपद्ये स्निग्ध जनेषु पदेन वन्द्यत्वमभिहितम्, अस्निग्धेषु च नमः पदं, तयोः संगतिरित्थं कर्त्तुं शक्यते— श्रौत ग्रन्थेषु नमः पदं नमस्कारे, तिरस्कारे, भोज्ज्यान्ने च प्रयुज्यते। नमोस्तुरुद्रेभ्योः ० नमस्तुभ्यं देवानां प्रियाय, नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च० इति क्रमशस्तदुदाहरणानि बोध्यानि। तेनात्र सद्भ्य इति पदे विपरीत लक्षणया असद्भ्य इत्यर्थो लक्ष्यते असत्त्वातिशयश्च व्यज्यते। असन्तस्तु असन्त एव, न ते सन्त इति कथ्यन्ते। तत्श्चासत्पुरुषेषु समदर्शिन आत्मारामस्योपेक्षा विषयत्वमेवात्रावगन्तव्यम्। तेनात्र नमसस्तिरस्कारार्थकत्वमपि ग्राह्यमेव। अत्र लाभालाभादि समत्व योगे स्वात्मानन्दाद्वयानुभूतेर्हेतुत्वात् काव्यलिङ्गम्। योग्यतया सदसद्योग सम्भावनात् समालंकारश्च। शार्दूलविक्रीडितमत्र वृत्तम्। सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्। इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— श्री आचार्य चरण ने प्रकृत सूक्ति पद्य के द्वारा उन समत्व योगनिष्ठ सत्पुरुषों का स्वरूप प्रस्तुत किया है कि जो स्वात्मानन्दाद्वयानुभूति प्रवण होने के कारण चराचर जगत में सर्वदा सर्वत्र केवल समब्रह्म का ही दर्शन करते हुये स्वात्म निर्वृत रहते हैं, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश आदि समस्त मिथ्या प्रतीत पदार्थों में हेयोपादेयता के लिये उनके विशुद्ध अन्तःकरण में कोई स्थान नहीं होता। निखिल जागतिक विषय वस्तु के प्रति सदा अनासक्त चित्तवृत्ति से सर्वत्र रागद्वेषविहीन बने रहते हैं। ऐसी स्थिति में उन निरीह निर्भय शान्तात्मा समदर्शी सत्पुरुषों की, शत्रु-मित्र उदासीन जनों में भेदबुद्धि नहीं होती। एतादृश समत्व योगी पुरुष की मनःस्थिति का दिग्दर्शन, श्री आचार्यपाद ने समत्वयोगी की ओर से अपने वाग्व्यापार द्वारा प्रकृत सूक्ति पद्य से कराया है। इसलिये कि मेरा अन्तःकरण सब प्रकार के सङ्कल्प-विकल्पों से शून्य है, लाभ-हानि, जय-पराजय किसी भी वस्तु की प्राप्ति तथा अप्राप्ति, मान-अपमान आदि सभी द्वन्द्वों में समत्व प्राप्त कर चुकने के उपरान्त मेरा अन्तरात्मा स्वान्तः विश्रान्ति सुख समुद्र में निमग्न हो गया है। अतः अब मैं सभी प्राणियों को, चाहे वे मित्र हों, शत्रु हों, उदासीन हों, सर्वात्भ भगवत्स्वरूप समझ कर अपनी ओर से प्रणति, सम्मान अर्पित करता हूँ। आत्मा का आत्मा के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होने के कारण जो उत्तम प्रकृति के पुरुष मुझ पर अकारण स्नेह करते हैं, मैं उनका आभारी हूँ। तथा वे पुरुष जो किसी कारण विशेष से मुझे अपने स्नेहदान का पात्र नहीं समझते और वे पुरुष भी जो स्नेह वृत्ति शून्य होने से अकारण ही परद्रोह बुद्धि से पराङ्मुख रहते हैं, तथा वे पुरुष भी जो अपने नैसर्गिक परोत्तापकर दुःस्वभाव के कारण निरर्थक दूसरों का अहित करते रहते हैं, वे सब महानुभाव, सर्वदा जितकाम, जितक्रोध, तपस्विजनों के लिये निकषपाषाण तुल्य होने से विशेष रूप से श्लाघनीय ही हैं। उन सब को मैं समान रूप से नतमस्तक होकर प्रणाम करता हूँ।

सुहृद-मित्र-शत्रु-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धु-बान्धव-सज्जन-दुर्जन पुरुषों में समबुद्धि होने के कारण किसी के भी प्रति मैं रागद्वेष का भाव नहीं रखता हूँ, अब मेरी उस सम-ब्रह्म से तादात्म्यापत्ति है कि जिसका निर्गुण निराकार सगुण साकार आदि कोई भी साम्प्रदायिक विशेषण स्पर्श तक नहीं कर पाता। अब मैं सर्वत्यागे समापना सिद्धान्त के अनुसार सर्वात्मभाव से ओतप्रोत हो गया हूँ। देहगेहादि के सर्वथा अध्यास से रहित मुझ तक पाञ्चभौतिक शब्दादि गुणों की पहुँच नहीं है। **चिदानन्द रूपः शिवः केवलोऽहम्। आत्मैवेदं सर्वम्, आत्मातिरिक्तं किमपि नास्ति** इस सत्सिद्धान्त की दृढ़ निष्ठा के प्रभाव से अज्ञानभासित जागतिक वस्तु भेद मूलक मित्रोदासीन शत्रुभाव सूर्योदय होने पर अन्धकार के समान ध्वस्त हो चुका है। अतः अब किसी को भी मुझ से कोई भय नहीं है और किसी से मुझे कोई भय की आशंका नहीं है। अब मैं सुप्तोत्थित पुरुष के समान स्वप्नदृष्ट रागद्वेष भयादि बन्धनों से सर्वथा मुक्त हूँ। अब मैं जन्म-मरण, क्षुत्पिपासा, शोक-मोह, बन्ध-मोक्ष की सीमा के अन्तर्गत नहीं हूँ।

"नाहं देहो जन्म मृत्यू कुतो मे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे।
नाहं चित्तं शोकमोहौ कुतो मे नाहं जीवो बन्धमोक्षौ कुतो मे॥"

रोमाञ्चं तनुषेऽधरं व्रणयसे गात्रेषु कम्पं करो-
ष्याश्लेषाय मतिं ददासि ननु सीत्कारस्य शिक्षां तथा ।
कान्तं रोचयसे नितान्तमधुना शान्तं निशान्तं मम
स्वान्तं प्रोषितभर्तृकामपि न मां जानासि हेमन्त किम् ॥४८॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - मन्मथ विक्रियां जनयतोर्हेमन्तस्या समीक्ष्यकारितामुपक्षिपन्त्या आत्मनि निरर्थकं तत्प्रयासमर्थशक्तिद्वारा प्रकटयन्त्याः प्रोषितभर्तृकायाः कस्याश्चिदुक्तिमभिदधते आचार्यपादाः —

हे हेमन्त, मास द्वयावधिक हिमऋतो! रोमाञ्चं पुलकावलीं तनुषे विस्तारयसि, शरीरे शैत्यात्। अन्यत्र- निधुवनस्मरणात्, अधरमधरोष्ठं व्रणयसे, पाटयसि- शुष्क शीतवायुस्पर्शद्वारा, अन्यत्र नखदन्तघातात्। गात्रेषु हस्तपादाद्यवयवेषु कम्पं करोषि, शीतवाता सहत्वात्। अन्यत्र सात्त्विक भावाविर्भावात्। आश्लेषाय, ऊर्णातूलादि वस्त्र संयोगाय, अन्यत्रालिङ्गनाय मतिं वुद्धिं ददासि, दम्पत्योरिति। ननु निश्चयेन तथा सीत्कारस्य, शैत्य जनित दन्तकटाकट ध्वनि विशेषस्य यद्वा - व्रणिताधरोष्ठ लग्न शीत्वात् जनित्सीत्कृतस्य, अन्यत्र - रतिसुखाभिञ्जक सीत्कारस्य शिक्षामुपदेशं ददासि।

कान्तमभीप्सितं वस्तुः, तत्कालोचित भोज्यवसनादिकं, अन्यत्र कान्तं कमनीयं पतिं रोचयसे अभिलाषयसि। किन्तु इदानीमधुना मम प्रोषितपतिकाया निशान्तं भवनं अट्टालिका, नितान्तमत्यन्तं शान्तं शून्यं, निरूपद्रवं, वह्नि तापादिसाधन बाहुल्यात्। अन्यत्र शून्यं प्रवासं गतस्य पत्युरनुपलम्भात् स्वान्तं मनश्च शान्तमचञ्चलं विरहाधिग्रस्तत्वात् पतिध्यान समाधिनिरतत्वाच्च। इति शब्दार्थव्यञ्जनया रहस्यमावेद्य हेमन्तमधिक्षिपति- अस्यां स्थितौ हे हेमन्त! स्वान्तं वियोगिजन पीडा प्रदत्वादतिनिष्ठुरं स्वान्तःकरणं, यद्वा- स्वस्यान्तमन्तसमयं मासद्वयावधिक मायुष्यमपि च प्रोषितभर्तृकामेकाकिनीं पतिविरहितां मां न जानासि किम् न वोत्सि किम् मामधुना स्प्रष्टुं न लज्जसे। इत्थं साधु विचिन्त्यापि त्वमुद्दीपन सम्पदा मां वियोगिनीमपि योगिनीं चिकीर्षसीत्यहो तव मौढ्यम्। अत्राचेतनमपि हेमन्तं चेतनं मत्वा तं प्रतिवार्तालाप करणात्। प्रकृतिकार्पण्यं वियोगिन्यालक्ष्यते "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेष्विति"। अत्र प्रवास हेतुक विप्रलम्भ श्रृंगार रस ध्वनिर्हेमन्तं प्रत्यसूयाभावाभिव्यञ्जकः। अत्र किमिति प्रश्नात् हेमन्तस्य निरर्थक

विरुद्धाचरण रूपोत्तरस्योन्नयनादुत्तरालङ्कारः। यद्वा रति साचिव्यकर रोमाञ्चादयो हेमन्ते सुखदा अपि वियोगिन्यास्तापकरत्वाद्विरूद्धा इति विषमालङ्कारो वा। शार्दूल विक्रीडितं छन्दः। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— काव्य जगत में वसन्तादि ऋतुएँ, कवि सम्प्रदायानुरूप कल्पना-सम्भावनाओं के शुभासन पर अपनी अपनी जातीय विशेषताओं के साथ विराजमान होती हैं। कामकामी हों या जितकाम पुरुष, प्रायः सभी ऋतुविहित वातावरण से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित होते ही हैं। हेमन्त ऋतु का भी काव्य संसार में विशिष्ट स्थान है। हेमन्त समय, जहाँ एक ओर अवाप्तमिथः संयोग दम्पत्ति को, द्राधीयसी-रजनी, अयत्न शीतल वारि, सामयिक नवान्नसंस्कृत स्वादु भोज्यपदार्थ, स्वेदरहित निधुवनविलास, स्मरोद्दीपक समीरसञ्चार, तात्कालिक सीत्कार शिक्षा, हिमसमीरज शैत्य निवृत्यार्थ उच्च कुचोष्मताप आदि निसर्ग सिद्ध स्वसम्पदा उपहार में समर्पित कर प्रमुदित कर देता है, वहाँ दूसरी ओर दुरदृष्टवशात् विप्रयोगमूलक मनःसन्ताप देकर वियोगी जनमानस को व्यथित भी करता है। श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा प्रोषितपतिका विरहिणी की मनोदशा का वर्णन किया है। मन्मथ विकारोत्पादक हेमन्त से क्षुब्ध होकर उस की अनभिज्ञता-असमीक्ष्यकारिता को अधिक्षिप्त करती हुई दृढ़ता के साथ हेमन्त की भर्त्सना निम्न शब्दों से विरहिणी कर रही है — हे हेमन्त! स्मरण रख, तेरा शासन सदा रहने वाला नहीं है। केवल दो मास की ही तेरी आयु हैं। सर्वजन समुदाय समान रूप से तेरे शासनसूत्र में आबद्ध है तो भी सस्त्रीक पुरुष, अवियुक्तपतिका युवती, तथा अस्त्रीक पुरुष वियुक्तपतिका कामिनी के प्रति तेरा समान व्यवहार नहीं है – अवियुक्त दम्पत्ति पर अनुग्रह की वर्षा, तथा वियुक्त स्त्री-पुरुष का कठोर निग्रह! कारण भेद से कार्य भेद माना गया है। किन्तु तेरे शासन कालीन संविधान में कारण भेद होने पर भी कार्य में भेद परिलक्षित नहीं होता। जैसे, कहीं तो शीतवात स्पर्श से रोमाञ्च का उद्गम, तो कहीं निधुवन स्मरण से। कहीं शुष्क शीतस्पर्श वायु के द्वारा अधरोष्ठ-व्रण, तो कहीं नखदन्तघात से। कहीं शीतवात जनित गात्रकम्पन तो कहीं सात्त्विक भावाविर्भाव से। कहीं शीत निवारणार्थ ऊर्णातूलादि वस्त्र परिधान की आकांक्षा तो कहीं गाढालिङ्गन की। कहीं शैत्यकृत दन्तकटाकट ध्वनिरूप सीत्कार। अथवा - व्रणिताधरोष्ठ लग्न शीतवात पीडाजनित सीत्कार तो कहीं रति सुखाभिव्यञ्जक सीत्कार। कहीं तत्कालोचित रुचिकर भोज्यवसनादि की उत्कृष्ट अभिलाषा तो कहीं कमनीय कान्त या कान्ता की। अव्यवस्थित क्रिया-कलापों से तेरी असमीक्ष्यकारिता तथा अनभिज्ञता ही सूचित होती है।

मुझ विरहोत्कण्ठिता के समक्ष रोमाञ्चोद्गमा संयोगसम्भार का उपस्थापन मेरे पति की अनुपस्थिति में करने से क्या तेरी अनभिज्ञता, असमीक्ष्यकारिता प्रकट नहीं होती? मुझ

पति वियोगिनी एकाकिनी की भवन-अट्टालिकायें सब शून्य अवस्था में हैं। मेरा मन विरहाधिग्रस्त होने से नितान्त शान्त (प्रहर्षशून्य) है। **घर-घर में दिवाली है, मेरे घर में दिवाला** ऐसी स्थिति में मेरे प्रवासी पति का स्मरण दिलाकर मुझ विरहाव्याकुल असहाय अबला पर तीक्ष्ण प्रहार करने से तेरा असमीचीन निरर्थक विरुद्धाचरण कर्तृत्व अभिव्यक्त नहीं होता क्या? विरही जन को व्यथित करने के कारण तेरा स्वान्त मन भी कितना निष्ठुर है, यह तू नहीं जानता। आने वाला जाता भी है, इस नियम के अनुसार तेरा भी अन्त होगा, यह भी तू नहीं जानता क्या? मैं प्रवासी पति की विरहपीडिता पत्नी हूँ, यह भी क्या तू नहीं जानता? अतः समस्त विरह पीडित प्रोषितभर्तृकाओं की ओर से तुझे तेरी मूढता का प्रमाणपत्र क्यों न दे दिया जाय? इन सभी सामयिक प्रश्नों का तेरे पास कोई समीचीन समाधान है क्या? श्रीआचार्यपाद ने प्रकृत सूक्ति पद्य से, अचेतन से चेतनवत वाग्व्यापार करने वाली कामार्ता प्रोषितभर्तृका के प्रकृति-कार्पण्य का निदर्शन प्रस्तुत किया है। कवि प्रजापति के काव्यसंसार में कवि सम्प्रदायानुरूप, देश, काल, पात्र स्थिति का अलोकदृष्ट, चमत्कृत परिवर्तन, श्रोता, पाठक तथा दर्शकों के लिये विगलित वेद्यान्तर स्पर्श सुखास्वादसुधासिन्धु निमज्जन, उपहृत कर देता है। काव्य जगत के स्वतन्त्र विधाता सुकवि को रस भावादि समर्पक शब्दार्थ योजना के द्वारा चेतन को अचेतन, अचेतन को चेतन रूप से प्रस्तुत करने का स्वभाव सिद्ध अधिकार प्राप्त है। उसे लोकदृष्ट वस्तुगत नियतिकृत नियम कदापि मान्य नहीं होता।

शिष्टाऽनुग्रह दृष्टनिग्रहमिषात् कल्याण मातन्वती
विश्वस्य क्रमविक्रमाऽक्रममयी धर्मस्वरूपा शिवा ।
आनन्दामृतवर्षिणी शिवमहासत्ता चिदम्भोनिधिर्देवी
क्रान्तिरुदारधीर्विजयतामार्या परा भैरवी ॥४९॥

व्याख्या— मन्येऽहं - स्वजन्मनास्थित्या वा महाराष्ट्र पञ्चानन शिवराजीय प्रान्तमलङ्कुर्वाणा आचार्यपादाः - शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते। इति धर्म शास्त्रानुशासनं साधुं सामयिकं मत्वा अप्रतिहत शक्ति पराभैरवीरूपां धार्मिक क्रान्ति हृदाभिनन्द्य भारते तद्विजयमाशंसन्तेऽनेन सूक्तिपद्येन, तथा च शब्दार्थोभय शक्ति बोध्यां भैरवीं महाशक्तिमपि स्तुवन्ति। देवी देवनशीला अपराजेया क्रान्तिः अधर्माभ्युत्थान निरासपूर्वकं श्रुति सिद्धसनातन धर्म संस्थापनाय धार्मिकान्दोलन रूपेण सोत्साह सक्रियानुष्ठानम्, विजयताम्, विजयं लभताम्। भारते इति शेषः। क्रमेण क्रान्तेर्विशेषणानि, शिष्टानुग्रह दुष्ट निग्रहमिषात् - शिष्टेषु, धर्मानुशासित

सदाचरणवत्सु जनेषु, अनुग्रहः - समुचित संरक्षण दानादिरूपेण कृपा। दुष्टानां नास्तिक्यादि दोषदूषितधियां दुर्जनानां निग्रहो निग्रहणं, दण्डयातनादिना। तयोर्मिषात् व्याजात्, विश्वस्य, विश्वेशलीला रङ्गमञ्च जगत्प्रपञ्चस्यकल्याणं लौकिक पारलौकिक सुख समृद्धिरूप-मातन्वती विस्तारयन्ती। क्रमविक्रमाक्रममयी - तत्र क्रम सामदानादिना आरम्भः, विक्रमो विशेषेण बल प्रयोगः आक्रम आक्रमणमासमन्तात् पूर्णबल प्रयोगस्तन्मयी तद्रूपा, मृदुमध्य तीव्रशक्तिमयीत्याशयः। धर्मस्वरूपा, धर्मः स्वरूपं यस्याः सा, धारणशक्तिमयी, "धर्मो जयति नाधर्मः, इत्यसंदिग्ध विजयकर्त्री, शिवा लोक कल्याणकारिणी, यद्वा - शिवराज नेतृत्वात् सा क्रान्तिरपि शिवेति नामधेया, आनन्दामृत वर्षिणी, सर्वसुख समृद्धि सुधा वर्षणशीला, शिवमहासत्ता, शिवस्य शिववीरस्य अपराजेयसत्त्वरूपा, यद्वा तस्य महापुरुषस्य चिरमितिहासेऽस्तित्व रक्षणात् तदस्तित्व बोध हेतुः क्रान्तिरेवेति तद्रूपा, चिदम्भोनिधिः, - चित् आत्म गौरव ज्ञानं क्रान्ति कारिणां, तदेवाम्भोनिधिः सुस्थिरत्वात् दुरवगाह्यत्वाच्च तद्रूपा, देवी दैवशक्तिरूपा, उदारधीः जगदुपकृतिमयी धीर्बुद्धिर्यस्याः सा, आर्या आर्यगुण सम्पन्ना आर्यदेशीया वा, परा उत्कृष्टा भैरवी, भियारवयति दुष्टानिति भैरवी, भयङ्कर नादवती, क्रान्तिः सोत्साह सक्रिय धार्मिकान्दोलनरूपा विजयताम् विजयमाप्नुयात्। इति स्वातन्त्र्य लाभाय शिवराज सैन्य क्रान्ति परकोऽयमर्थः। अथ च - भैरवी भैरव महारुद्रशक्तिर्महारौद्री कालिका विजयतामित्यपरोऽप्यर्थः शब्दार्थशक्त्या लभ्यते तदित्थम् - शिष्टेषु दैवीं सम्पदमभिजातेषु जनेषु देवेषु चानुग्रहः, वात्सल्य रसामृतमयी करुणा, दुष्टानां - आसुरीं सम्पदमाश्रित्वतां दुर्जनानां दैत्यदानवासुर रक्षसां निग्रहः संहारस्तयोर्मिषात् तन्माध्यमेन विश्वस्य जगत्प्रपञ्चस्य कल्याणं सर्वाभ्युदयनिःश्रेयसाधिगम मातन्वती निर्बाधं विदधती, क्रमः पादाघातः, विक्रमः पराक्रमः, आक्रम आक्रमणं शस्त्र्यादिना प्रहरणं तन्मयी तद्युक्ता, यद्वा इच्छा ज्ञानक्रियाशक्तित्रयस्वरूपिणी वितन्त्रोक्ता सौम्यघोररूपा विश्वात्मिका, धर्म-स्वरूपा धारण-शक्तिरूपा, ययेदं धार्यते जगदित्युक्तेः।"

शिवा तदपरनाम्नी विश्व कलयाणमूर्तिर्वा, आनन्दामृत वर्षिणी चिद्घनानन्द सुधावृष्टिकर्त्री। शिव महासत्ता- शिवस्य महेश्वरस्य महती अद्वितीया सत्ता तदस्तित्व बोधिका। यां विना शिवस्य शिवत्वमेव तिरोहितं स्यात्। आदिमध्यान्त रहितस्य शिवस्य सार्वकालिकी स्थिति स्तयैवेत्युक्तं त्वया विना महेशानि शिवोऽहं शवरूपकः। "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि" इति आचार्य शङ्कर भवगत्पादाः प्राहुः। चिदम्भो निधिः, चित् आधारशक्तिश्चितरूपा चिति रूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत। चिदेवाम्भो जलं, जायते लीयते च सर्वं यत्र तच्चिज्जलं निधीयते यत्र सा सर्वाधाराधाररूपा। देवी देवनशीला निकृत्त दैत्यशिरः कन्दुक क्रीडासक्ता वा, क्रान्तिः दैत्यसैन्ये विद्युद्गत्याक्रमण कर्त्री, विश्वरूपा वा उदारधीः सर्वेषूपकारमतिः वैरिष्वपि प्रकटितैव दयात्वयेत्थम्, किमुत देवमानवेषु भक्तेषु। चित्ते कृपा समरे निष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि इति तत्स्तवे प्रतिपादनात्। आर्या, सर्वार्य गुणविराजिता, आर्य जनसेव्या च। परा सर्वशक्तिस्वरूपिणी। भैरवी भयङ्करो रवो दुष्ट दैत्य हृदय विदारको यस्याः सा, तस्या भयङ्कर मुखनाद मात्रेण दारुकदैत्यस्य हृदयं विदीर्णं मृतश्च स इति पौराणी कथा। यद्वा भिया रवयति दुष्टानिति सा भैरवी, महाभैरव रुद्र महाशक्तिः। विश्वस्य भरणात्, रमणात्, वमनाद्वा भैरवी, सृष्टिस्थित्यन्तकारिणीत्यर्थः। सा महादेवी महाकालिका भैरवी विजयताम्, सर्वत्र दुष्टदमन कर्मणा विजयं लभतामिति सूक्तिपद्येऽत्र परिवृत्ति सहापरिवृत्तिसहानां शब्दानां सन्निवेशात् शिवसैन्यक्रान्ति, सर्वशक्तिमयीं देवीं महाभैरवीञ्च सममेव प्रास्तुवन्नाचार्यपादाः। ततोऽत्र तयोरर्थयोः शब्दार्थशक्तिमूलमौपम्यं व्यज्यते। प्रस्तुताप्रस्तुतयोरर्थयोः समानगुण निबन्धनात् सामान्यलङ्कारश्च। शार्दूल विक्रीडितं छन्दः लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— भव (संसार) का आनयन (उद्‌भासन) करने वालरी भवानी ही जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, मङ्गला, काली, दुर्गा, शिवा आदि अनेक नामरूपों से शाक्त भक्तों के द्वारा सविधि समर्चित होती है। सर्वस्वरूपा सर्वशक्तिस्वरूपिणी सर्वेश्वरी शिवमहाशक्ति शिवा भवानी का ही यह चराचर जगत लीला विलास है। तंत्र ग्रन्थों में गृहस्थ उपासकों के लिये शिव के साथ शिवा का शिवा के साथ शिव का समर्चन विधान प्राप्त होता है। शैव संन्यासी प्रायः शिवशक्त्यद्वैतभावना से दोनों का पार्थक्य न मानकर ही उपासना करते हैं। भूतभावन महेश्वर के लीला रूप कालभैरव, कपाल भैरव, संहार भैरव, बटुक भैरव आदि भैरवों के साथ एक एक भैरवी, जिनके नाम तन्त्रग्रन्थों से अवगत होते हैं, की पूजा का विधान प्राप्त होता है। यही परा भैरवी शाम्भवी महाशक्ति, इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्ति रूप से जगत के सृजनादि की व्यवस्था करती है। श्रीआचार्यपाद ने इसी चिदचिन्मयी देवी परा भैरवी शिवा का सर्वोत्कर्ष स्वीकार कर सूक्तिपद्य के द्वारा शाक्तसम्प्रदायाभिमत स्तवन प्रस्तुत किया है। शिवा भैरवी स्तुति परक अर्थ – दैत्यदानवादि दुष्ट जन दमन, तथा देवमुनिमानवादि शिष्ट जन संरक्षण रूप अप्रतिकार्य निग्रहानुग्रह सामर्थ्य के द्वारा समस्त जगत का सदा सर्वविध कल्याण

करने वाली, क्रम-अक्रम-विक्रम पदबोध्य क्रिया-ज्ञान-इच्छा शक्तित्रय स्वरूपिणी, अथवा - क्रम (पादाघात), विक्रम (पराक्रम) आक्रम शस्त्रादि से प्रहरण रूप अद्भुत सामर्थ्य शालिनी **"धर्मो धारयते प्रजाः, आधारभूता जगतस्त्वमेका, ययेदं धार्यते जगत"** इत्यादि वचन प्रामाण्य से समस्त स्थिर चरप्राणिसङ्कुल जगत को धारण करने वाली धर्मस्वरूपा, चराचर प्राणी जिसकी गोद में पुत्रवत् सोते जागते रहते हैं।

ऐसी भक्त जन कामनापूरिणी विश्व कल्याण मूर्ति शिवा **शेते वाती जगद्यस्याम् शिवा** अज्ञानध्वान्त निरासपूर्वक चिद्घनानन्द सुधावृष्टिकर्त्री, आदिमध्यान्तरहित भगवान शिव के नित्य शाश्वत अस्तित्व की परिचायिका, चिन्मय पयोधिरूपा। अखिलदिव्यगुणगणलंकृत विग्रहा देवी, सदा सर्वत्र नानारूप से विराजमान शक्तिसमूह मूर्ति, जगन्माता होने के कारण सब का यथायोग्य उदारतापूर्वक भरण पोषण करने वाली, आर्युगुणसम्पन्ना, आर्यजनसेव्य पदाम्बुजा, सर्वोत्कर्षशालिनी, पराशक्ति दुष्ट दैत्य हृदयविदारक, भयङ्करनादकर्त्री, विश्व का भरण रमण वमन करने के कारण भ, र, व इतिवर्णत्रय सूचित अन्वर्थ नाम वाली अर्थात् समस्त विश्व प्रपञ्च का यथा समय सृजन, पालन, संहार करने वाली, भैरव महाशक्ति भैरवी सदा सर्वत्र सर्वविध सर्वोत्कर्ष विभूषित होकर स्वभक्तजन मानसमन्दिर में विराजमान रहें। साथ ही एकवृन्तगत फलद्वयन्यायेन महाराष्ट्र पञ्चानन शिवराज के नेतृत्व में सम्पन्न होने वाली धार्मिक क्रान्ति का विजयाशंसन भी प्रकृत सूक्तिपद्य पदावली से अभिव्यक्त किया जा सकता है। महाराष्ट्र केसरी श्री शिवाजी महाराज की धार्मिक स्वातन्त्र्य प्राप्ति के लिये की गई सैन्य क्रान्ति के विजयोत्कर्ष की शुभाशंसा का सूचक सूक्तिपद्यार्थ —

शिष्ट सदाचारी देशवासी जनों को समुचित संरक्षण दानानुग्रह, तथाधर्मविरोधी सज्जनत्रासक दुष्टजनों का निग्रह करके अपने देश वासियों का कल्याण करने को समुद्यत, साम दान दण्ड भेद नीति कुशल "धर्मो जयति नाधर्मः" धर्मबल के अडिग विश्वास पर असन्दिग्ध विजय प्राप्त करने वाली, शिवा (लोक कल्याण कारिणी) देश को सुख समृद्धि से परिपूर्ण करने के लिये सतत प्रयत्नशील, शिव वीर की अपराजेय सत्त्व स्वरूपा अथवा शिववीर के ऐतिहासिक अस्तित्व की हेतुभूता, क्रान्तिकारियों की आत्मगौरव गाथा, तथा **भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै स्वपनम्** इस याजुषवेदमन्त्र से उद्बोधन लेकर आत्म चैतन्य के जागरण कार्य में सदा समुद्र के समान सुस्थिर, देवी दैवी शक्ति से सम्पन्न, उदात्त मानवीय विचाराचार निर्भर, शौर्यवीर्यनिर्भयतादि आर्य गुणों से भूषित, आर्यदेशोद्भवा भैरवी शत्रुजनको भयभीत कर देने वाली, अधर्माभ्युत्थान निरासपूर्वक श्रुति सिद्ध सनातन धर्म संस्थापनार्थ स्वातन्त्र्योद्देश्यक विजयैषिणी शिवराज की वीर सैन्यक्रान्ति, पूर्ण उत्कर्ष के साथ शत्रुजन पर विजय प्राप्त करें।

यहाँ शाम्भवी महा शक्ति भैरवी, तथा हर हर महादेव का उद्घोष करने वाली शिव वीर सैन्य क्रान्ति का सादृश्यमूलक उपमानोपमेय भाव मानकर अर्थद्वयी से ध्वन्यमान औपम्य के द्वारा सूक्तिपद्य के दोनों अर्थों की सङ्गति की जा सकती है।

सच्चिदानन्द् ब्रह्मरूपा, विधि हरिहरादि जननी, समस्त सदसद्वस्तुगत शक्तिसमूह मूर्ति, सर्वाद्या पराम्बिका शिवा भवानी की आराधना के बिना मनोरथ पूर्ति सम्भव नहीं होती। यही भुवनमाता स्वेच्छया कठपुतली के समान चराचर जीव जगत को नचाती है। स्त्री पुरुष रूप से सर्वत्र इसी का चमत्कार है — एतादृशरूपा स्वयं महादेवी ने शिव पुराण में कहा है — **"परं ब्रह्म परं ज्योतिः प्रणवद्वंद्वरूपिणी, अहमेवास्मि सर्वत्रमेवन्यो नास्ति कश्चन्।" अप्रतर्क्यगुण नित्या कार्य कारण रूपिणी। कदाचिद्दयिता दारा कदाचित पुरुषाकृतिः। यथा दारुमयीं योषां नर्तयत्यैन्द्रजालिकः, तथैव सर्व भूतानि नर्तयाम्यहमीश्वरी।** प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा आराध्य शिवा का स्तवन किया है।

संसारोऽयमनन्तलोकभरितः सर्वोऽस्ति यस्योदरे
स त्वं मद्धृदये निरन्तरमहो सर्वात्मना वर्तसे।
आलोक्यापि परस्परं सुशरणं प्रीणावहे नाथ हे
त्वं ब्रह्मास्यहमस्मि वा तदिति किं निर्णेतुमत्रेष्यते ॥५०॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन, जीवो ब्रह्मैव नापर इति जीव ब्रह्मणोर्वस्तु भेद प्रतिपत्तेरभावात् - सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत् त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मीति महावाक्य गताया इदन्त्वमहन्ताया निरासेन, अहमिति अकारादिहकारान्त वर्ण समुदायं, तद्विवर्तं सर्वमपि स्थिर चरप्रपञ्चञ्च ब्रह्मणिलयं भावयित्वा शुद्धस्याहमोऽपि ब्रह्मणि विलये जाते सति एकमात्र शेषे शब्दातीते ब्रह्मणि, त्वमेव ब्रह्मासि, त्वं ब्रह्मैवासि, अहमेव ब्रह्मास्मि, ब्रह्मैवाहमस्मीति वा निर्णेतुं शक्यते इष्यते वा केनापि। नापि शक्यते नापीष्यते तंत्राद्वयस्यं प्रयोजनान्तरानुपलम्भात्। तदा केन कः कं पश्येत् परमशान्तावस्थापन्नत्वात्। इति निगमोक्ता विचारसरणिरादीयतेऽत्राचार्यपादैः —

यस्य ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दबोध्यस्योदरेऽन्तर्भागे "पादोस्य विश्वाभूतानि", इति विश्वाख्ये तदेकपादे एव अनन्तलोकैर्भूरादिभिर्भरितः पूर्णोऽयं मायया दृश्यमानः संसारो जगत्प्रपञ्चः सर्वोऽपि अशेषोऽपि सावकाशं तिष्ठति, स्थितिं लभते, स त्वमनन्त ब्रह्माण्ड भाण्डोदरः सन्नपि मद हृदये, उदरादपि सूक्ष्मे मम हृद्गुहाभ्यन्तरे निरन्तरं सदैव सर्वात्मना परिपूर्णरूपेण वर्तसे विराजसे अहो इत्याश्चर्यम्। इत्थं परस्परमन्योन्यमन्योन्यस्य सुर शरणं शोभनमावासगृहं, सुवर्णे भूषणं, भूषणे सुवर्णमितिवत् आलोक्यापि विचार्यापि, हे नाथ स्वामिन्! प्रीणावहे प्रमोदावहे आवामिति शेषः, तदान्योन्यस्यान्योन्याधिष्ठानत्वेऽपि

निवृत्तवाग्व्यापारायां दशायां त्वं ब्रह्मासि, अहं ब्रह्मास्मीति वा निर्णेतुं निर्धारयितुमिष्यते काम्यते किम् तत्? निर्धार्य निर्धारकयोरभावात् निर्धारणमप्यं भाव ग्रस्तमेवेतिभाव: अत्र त्वमहं पदयो: केवलं प्रक्रियादशायामेव प्रभुत्वं न सिद्धावस्थायमित्याशय: ।

अत्र विशेष: - यत् तु "त्वत्त: सर्वं त्वं हि सर्वं सर्वं त्वय्यधितिष्ठति त्वय्येवोत्पद्यते विश्वं त्वय्येकस्मिन् जगल्लय: । त्वमेव सर्वभूतानां शरणं परम: सुहृत् । त्वमेवासि परं ब्रह्म त्वत्तोऽन्यन्न किञ्चन, नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वतायेत्यादि स्तुति पद्येषु तवैव ब्रह्मत्वमुच्यते नान्यस्येति । तत्तु "विदितेऽद्वैततत्वेऽपि जाते बोधे मनीषया" भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरमिति भक्तिभावनया स्वस्मिन्नेवोपास्योपासकत्वं प्रकल्प्यते । अयमात्मोपासनाया एव सरसो भक्ति मार्ग: पूर्वैरादृतोऽस्ति आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्य हैतुकीं भक्तिमित्थम्भूत गुणो हरिरिति हरेरेवं भूत गुणत्वादेव ते मुक्ति मनादृत्य भक्तिमाद्रियन्ते इति ।

वस्तुतस्तु - "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव," भवन्ति भाव भूतानां मत्त एव पृथग्विधा:, अहं सर्वस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा, योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहमित्यादि वचनैरहं ब्रह्मास्मीति नैगम: सिद्धान्त: ।

तस्मात् त्वमहं प्रधान वाक्यैरेतै: किम् निर्णय: कर्तुं शक्यते - त्वं ब्रह्मासि अहं ब्रह्मास्मीति वा । केवलमनुभवविषयीभूते शब्दातीते ब्रह्मणि आवयोर्द्वयोरप्यद्वितीयत्व बोधे भेदकरणस्यावश्यकतैव नास्ति । अथ य उदरमन्तरं कुरुते तस्य भयं भवतीति, नानात्वमेव भय हेतुरिति वेत्ता कथमन्तरं कुर्याद् भवभीति निरासकामो द्वितीया द्वै भयं भवतीति विदन्नपि । मृत्योर्मृत्युमवाप्नोति य इह नानेव पश्यतीति त्वमहमिति भेद करणस्य मृत्युभयप्रदत्वात् तत्करणं नेष्यते इति । अत्रालङ्कारिक दिशा "त्वं ब्रह्मासीतिमत्वा मां मावमंस्था, अहमेव ब्रह्मास्मीति तत्त्व विन्निर्णयात् ।" अत्राद्वितीयत्वात् ब्रह्मण उपमानत्वं नानुभूतपूर्वं तस्यापि उपमानत्व कल्पनात् प्रतीपमलङ्कार: । शार्दूल विक्रीडितमत्र वृत्तम् । लक्षणं प्रागुक्तम् ।

भावार्थ— प्रकृति सूक्तिपद्य के द्वारा औपनिषद अद्वैत सिद्धान्त का दिग्दर्शन, श्री आचार्यपाद ने प्रस्तुत किया है । "नेह नानास्ति किञ्चन, जीवो ब्रह्मैव नापर:" इत्यादि वेदान्त वाक्यों से जीव तथा ब्रह्म की वस्तुभेद प्रतिपत्ति का सर्वथा अभाव प्रतिपादित किया गया है । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्मातिरिक्तं किमपि नास्ति" इन वाक्यों से इदम पद तथा ब्रह्म पद से वैचारिक भेद प्रदर्शित करके भी ब्रह्म से अतिरिक्त इदं पदबोध्य जगत्प्रपञ्च का पृथक्

अस्तित्व अस्वीकृत करके ब्रह्म का ही एकत्व अद्वितीयत्व निर्धारित किया गया है। **तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि** महा वाक्यगत त्वन्ता तथा अहन्ता का भी निरास हो जाने पर, अहं पद प्रत्याहृत अकारादि हकारान्त वर्ण समुदाय, तथा तद्विवर्तभूत समस्त विश्वप्रपञ्च और तदभिमानी जीव जगत का ब्रह्म में सर्वथा विलय होने पर विशुद्ध अहम् का भी ब्रह्म में लय हो जाता है। तब केवल एक मात्र अद्वितीय शब्दातीत नित्यसत्ता के निर्विशेष स्वानुभवैकगोचर ब्रह्म के ही शेष रहने पर – "तू ब्रह्म है, तू ही ब्रह्म है, अथवा मैं ब्रह्म हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार कोई भी निर्णय किया जा सकता है? अथवा एकतर निर्णय करने की कोई आवश्यकता होती है? अद्वय तत्त्व में भेद प्रयुक्त प्रयोजन के अभाव से उक्त निर्णय की न कोई आवश्यकता है और न निर्णय किया ही जा सकता है।" जैसे नदी जल प्रवाह पातित स्वल्पकूपजल, तद्रूपतापन्न होने के कारण न पृथक् किया जा सकता है और न उसे पृथक कूपजल के रूप में देखा ही जा सकता है। ठीक वैसे ही निर्विशेष विशुद्ध अद्वितीय ब्रह्म में पृथक्त्या तू तथा मैं का अन्वेषण प्रयोजनाभाव से न आवश्यक है और न शक्य ही है। द्वैतभाव सर्वथा तिरोहित होने पर परम शान्त दशा में कौन किसका ज्ञान करेगा। निर्धार्य-निर्धारक के अभाव में निर्धारण सम्भव ही न होगा। जैसे कोई अभेद में भेद की कल्पना करके अपने ही छायाचित्र से विनोद वार्तालाप करता है, वैसे ही श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य द्वारा स्वाभिन्न अद्वय पर ब्रह्म से विनोद बुद्ध्या वाग्व्यापार प्रस्तुत किया है —

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ज्ञानभक्ति कर्ममार्गी पुरुषों के द्वारा, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान आदि शब्दवाच्य होकर भी जो अनिर्वाच्य ही रहता है। जिसके उदरैकदेश में भूरादि अनन्तलोकों से परिपूर्ण यह दृश्यमान मायिक विश्वप्रपञ्च इस प्रकार सावकाशस्थित होता है कि जैसे – उदुम्बर वृक्ष के एकदेश शाखा भाग में असंख्य फल लगे होते हैं — **गूलर फल ब्रह्माण्ड निकाया**। गूलर फलों में जैसे असंख्य जीव निवास करते हैं वैसे ही अनेकों ब्रह्माण्डों में चराचर जीव जगत की स्थिति होती है। किसी विचारक द्वारा अनन्त परमेश्वर का उदुम्बर वृक्ष से साम्य प्रदर्शित किया गया है — **उदुम्बरं प्रपश्यन्तु फलैर्बहुभिरन्वितम्, ब्रह्माण्ड कोटिर्बिभ्राणमनन्तमिव सर्वतः - रोम रोम प्रति लागि हैं कोटि कोटि ब्रह्माण्ड** एवं रूप हे अनन्त ब्रह्माण्डभाण्डोदर परमात्मन! तुम मेरे उदरैक देश में हृदुहा के भीतर सर्वात्मना विराजमान रहते हो, यह कितने आश्चर्य की बात है! सुवर्ण में भूषण और भूषण में सुवर्ण के समान परस्पर हम तुम दोनों एक-दूसरे में नित्य निवास करते हैं! यह आश्चर्य देखकर हे जगत के नाथ! हम दोनों की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं! किन्तु निवृत्तवाग्व्यापार अद्वैत दशा में **तत्त्वमसि** अथवा **अहं ब्रह्मास्मि** तुम ब्रह्म हो या मैं ब्रह्म हूँ, दोनों महावाक्यों को प्रश्नवाचक मानकर हम दोनों में कौनसा ब्रह्म है, यह निर्धारण क्या आवश्यक होगा? त्वं पद तथा अहं पद का केवल विचारप्रक्रिया में ही भेद था, सिद्धावस्था में नहीं। अतः त्वम्, अहम्, दोनों का ही एक अद्वितीय तत्त्व में विलय हो जाने पर प्रश्न ही नहीं उठता कि दोनों में कौन

ब्रह्म है, कौन नहीं। यद्यपि अनेक स्तुतिवाक्यों में तुम को ही ब्रह्म माना गया है — "तुम ही सब कुछ हो, तुमसे ही चराचर जगत की उत्पत्ति हुई है। यह जगत तुम में ही मायया परिदृष्ट है। इसका विलय भी तुम में ही होता है। तुम ही परब्रह्म हो, तुमसे अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं, हे परब्रह्मस्वरूप सच्चिदानन्द भगवन् ! तुमको प्रणाम करते हैं, इत्यादि अनेकों स्तुतिपद्यों के द्वारा तुम ही ब्रह्मरूप सिद्ध होते हो, मैं नहीं !"

तथापि यह चरम सिद्धान्त नहीं है। यह केवल भक्त्यर्थ ही अद्वैत में द्वैत कल्पना, भक्तिसाहित्य में की गई है। यह केवल आत्मोपासना का ही सरल सरस सुन्दर मार्ग है। इसमें अपने आप में ही उपास्योपासकत्व मानकर स्तुतिपद्यार्थ चरितार्थ होता है। वास्तव में तो 'सूत्र में मणिगण' के समान यह सब विश्वप्रपञ्च मुझ में ही प्रोत है। नानारूप शरीरधारी समस्त भूत वर्ग मुझ से ही उद्‌भव प्राप्त करता है तथा मुझ में ही विलीन हो जाता है। जो सर्वाधार सर्वसाक्षी सर्वज्ञ अविनाशी शेष रहता है, वह मैं ही हूँ। अतः इन वचनों के प्रमाण से मैं ही ब्रह्म हूँ, मदतिरिक्त और कोई नहीं। यह वेदान्त सिद्धान्त अन्तिम है। इन दोनों ही भक्तिमार्ग तथा ज्ञानमार्ग के वचनों से क्या यह निर्णय आवश्यक अथवा शक्य है कि 'त्वं ब्रह्मासि, अथवा अहं ब्रह्मास्मि' जबकि अनुभवैकगोचर अद्वितीय शब्दातीत ब्रह्म में त्वम्, अहम् दोनों का ही पूर्ण विलय हो चुका होता है। सिद्धान्तित अद्वितीय समत्व बोध की स्थिति में भेद करना अनावश्यक एवं अनभिवांछित तथा अशक्य है। जो कोई थोड़ा भी अन्तर (भेद) करता है, उसका भवभय बन्धन दूर नहीं हो सकता —**अथ य उदरमन्तरं कुरुते तस्य भयं भवति**। अतः कौन सावधान पुरुष भवभीतिनिरास चाहने वाला अन्तर (भेद) दृष्टि करेगा। जब एक अद्वितीय परशिवतत्त्व आनन्द-विनोदलीला प्रसङ्ग में पुत्र, पिता, पितामह, प्रपितामह की भूमिका का स्वयं निर्वाह कर लेता है, तब **एकोऽहं बहुस्याम्** स्वेच्छा शक्ति से त्वम्, अहम्, इदम् शाब्दोपाधि मात्र से भेद लीला प्रस्तुत करे तो क्या आश्चर्य है। शिव पार्वती विवाह में शाखोच्चारदान के समय पूछे जाने पर कि तुम्हारे पिता का क्या नाम है ? शिवजी का उत्तर— ब्रह्माजी ! पितामह कौन है ? उत्तर - विष्णु ! और प्रपितामह ? - उत्तर - सो तो सबके हम ही हैं !

देवानाम् परिपालनाय यतते क्षेमाय योगाय यो
भव्याय प्रतिवासरं त्रिजगतां यज्ञेन यज्ञं स नः ।
सर्वेषां यजमान एष जठरे जाज्वल्यमानः प्रभु
र्भुञ्जानः प्रतिवस्तुघस्मरशिवो वैश्वानरः प्रीयताम् ॥५१ ॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - सनातन भगवद्विग्रहरूपमिदं जगदग्निषोमीयमुक्तं अग्निषोमीयमिदं जगदिति। तद् भोक्तृभोज्यात्मकम्। तत्र

वैश्वानरात्मकं भोक्तृरूपम् भगवतः "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् इति भगवद्वचनात्।" अन्यच्च तस्य सोमात्मकं भोज्यरूपम्, "पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मक" इति। अत्रौषधयः - यवाद्यन्नवर्गः, तत्पालको रसात्मकः सोमः, सोम ओषधीनाम्पतिरित्युक्तत्वात्, तद्भोक्ता च वैश्वानरोग्निरिति। त्रितयं त्रिगुणानुरूपं ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपम् –"अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।" इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानमन्नदोषो न बाधते इति। त्रिभिरप्येतैर्जगति हविर्यज्ञादि प्रवृत्तिः। विधिनाविधिना वा भोक्तृभोज्य रूपेणाग्नीषोमयोरेव लीलावितानं दृश्यते सर्वत्र तत्र अग्निर्देवो द्विजातीनामिति ब्रह्मक्षत्रविशांद्विजातिपदाभिहितानां यज्ञरूपं सहजं कर्म वेदेषूच्यते। तदेव भगवता गीतोपनिषदिप्रोक्तम्। "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।" देवान् भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः, परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ इति। सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेदिति च। अत्र वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः। अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम्। इति मानव धर्मोक्तेर्यज्ञ एव मुख्यत्वेन वेदानां प्रतिपाद्यो विषयः।

ततश्च पुराकाले भारतीय द्विजातयोऽग्नीनाधाय सायं प्रातरग्निहोत्र - दर्शपौर्णमास - चातुर्मासादि यजनशीलाः, सायंप्रातर्मुनुष्याणामशनं देव निर्मितम् नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्र समो विधिरिति धर्मानुशासनात् प्रत्यहं देव पित्रादिसन्तुष्ट्यै पञ्चमहायज्ञान् निर्वर्त्य यज्ञशिष्टं हविरन्नं सोमरूपं भवद्वैश्वानर प्रीत्यै जठराग्निकुण्डे सविधि जुह्वतिस्म तदद प्राशितयज्ञो भगवत्प्रीतिं जनयत्विति भावेन विहितः सन् भुक्तान्नस्य दोषान् पञ्चसूना जनितान् निरस्य तदन्नशुद्धि द्वारा भोक्तुरन्तःकरण शुद्धिं विधत्ते।" आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।" स्मृतौ सत्यां सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष इति। तत एव द्विजत्वप्राप्ति प्रयोजनं परमात्मप्रसत्ति रूपं सिद्ध्यति। एष आस्तिकानां धर्मशास्त्रीयः पन्थाः। तदितरे जना धर्मनिरपेक्ष भोग विकास वादिनो जगदनीश्वर वादिनो नास्तिकाः पुनर्जन्म सिद्धान्तमविगणय्य भ्रष्टोपायैरर्थोपार्जन पूर्वकं स्वविनाशायसद्भोगान् भुञ्जते। तान् प्रति यमः प्राह - "न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्त मोहेन मूढम्।" अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे इति भगवताप्युक्तम्। "यज्ञ शिष्टाशनाः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्माकारणात्" इति। सम्भाव्यते चेदमस्मिन् धर्मनिरपेक्षयुगे-भगवदुक्त

वचनस्य सत्यतां बोधयितुमेव तेषां पुत्रादयस्तान् पापा इति व्याहरन्ति परम न ते विदन्ति कथं ते पापा इति। अर्थात् ये आत्मकारणादेव पचन्ति भुञ्जते च जाठराग्निहोत्र विधिना भगवद्वैश्वानर प्रसत्तिमापादयितुमीरयन्ति सूक्तिपद्येन –

यो, द्विजातीनामुपास्यो वैश्वानरः विश्वान् नरान् वेत्ति, इति वैश्वानरः, यो वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, इति श्रुत्या सर्वज्ञो वैश्वानरमूर्तिः शिवः, प्रतिवासरं प्रत्यहं देवानां ब्रह्माण्डवर्तिनां सुराणां वसुरुद्रादित्य प्रभृतीनां परिपालनाय परितुष्ट्यै, तथा च शरीरमपि लघुतरं ब्रह्माण्डमेव तत्र सूक्ष्मे स्थूले च तत्तदङ्गेषु सर्वत्र यथा स्थानं वसतां तत्तदङ्गगतिप्रदानां देवानां परिपुष्ट्यै, पितृणामप्युपलक्षणं देवपदम्। "पितृणां रूपमास्थाय देवा अन्नं हि भुञ्जते, इत्युक्तत्वात् ते यज्ञेषु स्वाहाभुजः श्राद्धेषु च स्वधाभुजः सन्ति देवा वस्वादयः।" त्रिजगतां, त्रिजगद्वर्तिप्राणभृतां भव्यायोद्भवाय कल्याण मङ्गलाय, योगाय अप्राप्तप्राप्त्यै, क्षेमाय प्राप्त संरक्षणाय, यज्ञेन यज्ञ कर्मणा यज्ञियेन हविषा यज्ञं यज्ञेश्वरं "अहं क्रतुरहं यज्ञ" इति गीतोक्तं भगवन्तं व्यापिनं यजते हविर्दानादिना सम्भावयति। स एवैष यजमानः देवानां यष्टा अष्टमूर्तिषु यजमान मूर्तिः शिवो (वैश्वानरः) भोज्यभोजकत्वं तस्यैवोक्तम् - अहमन्नमहमन्नाद इति। स नः अस्माकं तदुपासकानां जठरे जाठराग्निकुण्डे जाज्वल्यमानः अनवरतं प्रज्वलन प्रभुः समर्थः अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव चेति भगवद्वचनात्। प्रति वस्तुघस्मर शिवः प्रतिभोज्य वस्तु जातादनशीलः शिवो भोक्ता देवो महेश्वर इत्युक्त्वात्। भुञ्जानः सपर्मितं हव्य काव्यरूपेण दीयमानमन्नमश्नन् वैश्वानरः जठरकुण्डमध्यवर्ती वालाग्रसमसूक्ष्मोऽग्निः वैश्वानरः शिवः प्रीयतां प्रसीदतुतराम्। अनेन जाठराग्नि होत्र कर्मणेति शेषः। इदं प्रत्यहं भोजनावसाने वक्तव्यं जाठराग्निहोत्र समर्पणवाक्यमाचार्यैरुक्तम्।

यद्वा - वैश्वानर विद्योपासका आचार्या जठरकुण्डे जाज्वल्यमानमग्निं वैश्वानरब्रह्म प्रतीकरूपेण मत्वा वैश्वानर साधारण शब्द विशेषात् इति वेदान्त दर्शन सूत्रोपलक्षित परब्रह्म परमात्मानमेवात्र प्रसादयन्ति। तत्र वैश्वानर ब्रह्म स्वरूपं छान्दोग्ये - "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादा वुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनमास्यमाहवनीय" इति। शिवमद्वैतं चतुर्थं मत्यते इति च। तेन वैश्वानर ब्रह्म, प्रीयतामित्यत्र सूक्त्यर्थ पर्यवसानं वेदितव्यम्। तथा च भारते शान्ति पर्वण्यपि - "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः" इति। अतोऽत्र त्रिजगद्भावनं देवादीनां पालनं, सर्वस्य

योगक्षेम वहनादिकं परमात्मन्येव घटते, तस्मात् साधारण शब्द विशेष बोध्यत्वात् वैश्वानरो ब्रह्मैवेति वेदान्त सूत्रार्थमालम्ब्यैव परमात्मा विराट्पुरुषो वैश्वानरो भगवाननेन जाठराग्निहोत्रेण प्रीयतामित्यर्थः जैमिन्यादि मुनिमतेनापि जाठराग्नि प्रतीकं मत्वा तत्र वैश्वानर विश्वरूपोपासने न कश्चिद्विरोधस्तस्य सर्वाधिष्ठानत्वाद्विश्वरूपत्वाच्चेत्यलम्।

अथात्र कलिकाले धर्मनिरपेक्षयुगे, विलुप्त श्रौतस्मार्तधर्माचरणानां जनानां, परत्र च श्रद्धधतां कृते, सर्व वर्णसामान्यो विधिरपि भुक्तान्नशुद्ध्यै, भगवत्प्रीणनाय चोपदिष्टः - "कवले कवले कुर्वन् रामनामानुकीर्तनम् यः कश्चिन पुरुषोऽश्नाति सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते। एवमन्नस्य संशुद्धिर्जायते सत्त्वशुद्धिकृत्। इदमाचरतस्तस्य प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक् इति।"

अत्र भगवद्वैश्वानर विषयकरतेरभिव्यञ्जनात् भावध्वनिः, यजन क्रियया भव्ययोगक्षेमादीनां दीपनाद्दीपकम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। लक्षणं पूर्वमुक्तम्।

भावार्थ— हरिदेव जगत, जगदेव हरिः सनातन भगवतत्त्व विग्रहरूप यह समस्त जगत्प्रपञ्च अग्नि और सोम रूप से विभक्त है – **अग्निषोमीयं जगत्, अहं वैश्वानरोभूत्वा** तथा **पुष्णामि चौषधीः सर्वाः** इत्यादि भगवद्वचन प्रामाण्य से वैश्वानर पदबोध अग्निरूप को भोक्ता, तथा फलपाकान्तलक्षणलक्षित अन्नादि समस्त औषधिसमूह का पालक संवर्धक रसात्मक सोम को भोज्य कहा गया है। भोक्तृभोज्यात्मक अग्नि सोम रूप से सर्वत्र परमात्मतत्त्व ही परिलक्षित होता है – "अहमन्नमहमन्नादः"। हविर्यज्ञादि प्रवृत्ति का मूल, अग्नीषोमात्क भगवत्तत्व ही है। आस्तिक द्विजाति वर्ग के द्वारा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार, तथा नास्तिक धर्मनिर्पेक्ष जनों के द्वारा अशास्त्रीय स्वेच्छाचारानुमत अविधि के अनुसार सोमरूप भोज्य आहारादि का समर्पण जाठर वैश्वानर भगवान को ही किया जाता है। यहाँ तक कि यह जाठराग्निहोत्र, सविधि हो अविधि, समस्त स्थावर जङ्गमात्मक प्राणियों में अहर्निश सम्पन्न होता रहता है। इस प्रक्रिया से यह समस्त जगत यज्ञरूप भगवान् विष्णु का ही स्वरूप है — **यज्ञो वै विष्णु, सर्वं विष्णुमयं जगत्**। जगत के सृष्टिकर्ता ने यज्ञ के साथ ही प्रजा की सृष्टि करके दोनों में पारस्परिक उपकार्योपकारकत्व सम्बन्ध स्थिर कर दिया है — **सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा**— इत्यादि। वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म सहज रूप से केवल द्विजातिपदबोध्य ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के लिये ही विहित है – "**अग्निर्देवो द्विजातीनाम्।**" वेदों का मुख्यरूप से प्रतिपाद्य विषय यज्ञ ही है — **वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः, अग्नि वायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्, दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् - मानवधर्मे**। अतः चतुर्थवर्ण (शूद्र) को अनावश्यक अनुपयुक्त होने के कारण वेदाध्ययन विहित नहीं है। प्राक्तनपुण्य युगों में द्विजातिजन वेदोक्त विधि

के अनुसार अग्न्याधान, सायंप्रातरग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मासादि यज्ञानुष्ठान से धर्मादि पुरुषार्थ सिद्धि प्राप्त करके अपने द्विजत्व को सफल तथा सार्थक करते थे। सायं प्रातः अग्निहोत्र के समान जाठराग्निहोत्र (आहार विधि) भी शास्त्रोक्त विधि से सम्पन्न करके यज्ञरूप में पर्यवसित किया जाता था।

यों पारमार्थिक जीवन जीने वाले भारतीय द्विजसमाज का भजन भोजनादि सब कुछ पारमार्थिक ही होता था, मलिन वासनापूर्ति के लिये नहीं। पञ्चमहायज्ञ विधि के अनुसार देवता पितृगण मनुष्यादि के भोज्यान्न भाग तथा गवादि बलि भाग का उत्सर्ग करके जाठर वैश्वानर में भोज्यान्न का होम करने से वैश्वानर यज्ञ सम्पन्न किया जाता था। देवार्थपाकबुद्धि से निर्मित भोज्यान्न का उपयोग देवार्थ ही किये जाने के कारण प्रतिषिद्ध आत्मार्थपाकजन्य, तथा पञ्चसूनाजन्य दोष की सर्वथा निवृत्ति हो जाती थी, जिससे शुद्ध आहारकृत सत्त्वशुद्धि द्वारा मोक्षाधिगम का अधिकार सुलभ हो जाता था। आस्तिक द्विजाति समुदाय का यही नित्य सेव्य धर्मशास्त्रीय मार्ग कहा गया है। इस पारमेश्वर संविधान के विपरीत - जो धर्मनिरपेक्ष भोग विकासवादी नास्तिक जन, आत्मार्थ पाकबुद्धि निर्मित भोज्यपदार्थ का सेवन, केवल स्वात्मतुष्टि पूर्वक क्षुधा निवृत्ति के लियें ही करते हैं, वे यज्ञशिष्टाशी न होने के कारण सर्वकिल्विषभाजन होते हैं तथा उनकी संसृति कारागार से मुक्ति, भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् गीतोक्त भगवद्वचन प्रमाण से सम्भव नहीं होती। इसीलिये आत्मार्थपाकं न कुर्यात् यह धर्मशास्त्रीय वचन भारतीय द्विजातिजन मान्य होता है। धर्मनिरपेक्ष युग में यह अधिक सम्भव है कि भोगविकासवादी आत्मार्थपाकी नास्तिकों को उक्त भगवद्वचन की सत्यता का बोध कराने के लिये ही उनके आत्मज आत्मजा उन्हें 'पापा' शब्द से सम्बोधित करते हैं। किन्तु वे नहीं समझ पाते है कि वे किस कारण से पापा हैं। इसी विचार को हृदयगत करके श्री आचार्यपाद ने जाठराग्निहोत्र विधि से वैश्वानर ब्रह्म की उपासना को लक्ष्य करके ही प्रकृत सूक्तिपद्य प्रस्तुत किया है —

जो आस्तिक द्विजातिजन के उपास्य देवता, तथा समस्त वेद्यपदार्थें के वेत्ता, सर्वज्ञ, यजमान मूर्ति, वैश्वानर भगवान शिव, प्रतिदिन ब्रह्माण्डवर्ती समस्त देवता तथा मानवशरीर रूप लघु ब्रह्माण्डवर्ती यथास्थानस्थित सभी देवताओं के परिपालनार्थ, तथा तीनों लोगों के जीवजगत के कल्याण के लिये योगक्षेम निर्वाहार्थ, यज्ञ धर्म के द्वारा यज्ञेश्वर का यजन (हविर्दानादि से प्रीणन) करते हैं, वे वैश्वानर भगवान हम सब प्राणियों के योग क्षेम निर्वाह करने वाले सर्वसमर्थ, हमारे जठरकुण्ड में प्रज्वलित होकर प्रत्येक भोज्य पदार्थ का अभ्यवहार करते हुए हमारे द्वारा अनुष्ठित जाठराग्नि होत्र से सदा सन्तुष्ट रहें। इस प्रकार श्री आचार्यपाद ने प्रतिदिन भोजनावसान में बोलने योग्य जाठराग्नि-होत्रकर्म समर्पण वाक्य ही सूक्तिपद्य के रूप में प्रस्तुत किया है। वैश्वानरीविद्योपासक वैदिक विद्वान्, जठरकुण्ड में जीवन के आरम्भ से अन्त तक

विराजमान जाठराग्नि को वैश्वानर ब्रह्मप्रतीक मानकर **वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्** वेदान्त सूत्र प्रतिपादित परब्रह्म परमात्मा का ही यजन करते हैं। त्रिजद्‌भावन, देवादिक का परिपालन, प्रजा के योगक्षेम वहनादि कार्य, परब्रह्म परमात्मा में ही घटित होने के कारण साधारण शब्द विशेष बोध्य होने से वैश्वानर शब्द से ब्रह्म का ही बोध होता है। जैमिनि प्रभृति मुनियों के मत से भी जाठराग्नि प्रतीक से वैश्वानर विश्वरूप परमात्मा की उपासना में कोई विरोध नही है। क्योंकि वह सर्वाधिष्ठान सर्वरूप सर्वोपास्य ही है। यो परब्रह्म परमात्मा ही भोक्ता भोज्य भोजक तथा उपास्य उपासकादि रूप से सर्वत्र विराजमान है। तदतिरिक्तं किमपि नास्ति। वैश्वानर ब्रह्म का स्वरूप **"तस्य वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य......"** इत्यादि छान्दोग्यश्रुति, तथा **"यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा. ..."** इत्यादि भारत शान्ति पर्व के वचन के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। कलिकाल प्रभावित विलुप्त धर्माचरण मानवों के लिये अन्नदोष निवारणार्थ तथा अन्नशुध्यर्थ सर्ववर्ण सामान्य भोजन विधि, पुराणादि ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। प्रत्येक ग्रास पर रामनामोच्चारण करने वाला पुरुष समस्त अन्नदोषों से लिप्त नहीं होता, श्रीराम नामोच्चारण से भोज्यान्न शुद्ध निर्दोष हो जाता है, जिससे भोक्ता का अन्तःकरण शुद्धसात्त्विक भावापन्न हो जाता है। ऐसा करने से विश्वभुक् परमात्मा की सन्तुष्टि होती है — **कवले कवले कुर्वनरामनामानुकीर्तनम्, यः कश्चित् पुरुषोऽश्नाति सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते** इत्यादि वचन संस्कृत व्याख्या में देखें। यदि शास्त्रविधि से किया जाय तो भोजन करना भी प्राशितयज्ञ ही हो जाता है। **देवान भावयतानेन-यत्करोमि यदश्नामि** भगवदुपदिष्ट धर्मानुसार भोज्यवस्तु भगवान को अर्पित करके प्रसाद रूप में ग्रहण करने से अन्तःकरण निर्मल होता है। **"अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुः भोक्ता देवो महेश्वरः इति सञ्चिन्त्य यो भुङ्क्तेसोऽन्नदोषैऽर्न लिप्यते।"** त्रिगुणमूर्ति भगवान ही अन्न, अन्नरस, तथा भोक्ता के रूप में हैं, इस बुद्धि से भगवत्सेवित अन्न खाने से सब अन्नदोष निरस्त हो जाते हैं। मन शुद्ध होता है। **अन्नमयं हि सौम्य मनः।**

शङ्कातङ्क कलङ्कपङ्किल महीं संशोषयन्ती द्रुतं
संयोगाज्जगदम्बरं घनमलं संशोधयन्ती मनाक्।
उद्रिक्तां बकमण्डलीं कुवलयात् संवारयन्ती जगत्
कल्याणाय शरत्प्रभा विजयतां सम्पादयन्ती शिवम्॥५२॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये शरत्प्रभा वर्णनमुपक्रम्य तदुत्कर्षमाशंसन्ते आचार्यपादाः—

शङ्कातङ्क कलङ्क पङ्किल महीं, शङ्का सन्देहो वर्ष प्रपातादि गमनविघ्नकर मार्गावरोधादिना, आतङ्को भयं, करका वज्र धारापात जलप्लावन भूस्खलन विषधर

कीट प्रसरणादिना, यद्वा - आतङ्को रोगाः वातश्लेष्म ज्वराग्निमान्द्य रक्तविकार विषूचिका प्रतिश्याय वातव्याधि प्रभृतयो वर्षर्तुजन्याः कलङ्को मेघाडम्बर कालिमा, कदाचरण दोषारोपादिसम्भवो वा, पङ्कः, कर्दमः इतस्ततो गमन विघ्नकरस्तैर्युक्तां महीं धरां द्रुतं द्राक् संयोगात् स्वस्य सम्यग्योगात्, स्वागमनात्, स्वसम्पर्कात्, संशोषयन्ती अनार्द्रतां नयन्ती, घनमलं जगत अम्बरञ्च मनाक् संशोधयन्ती घनाः कालाम्बुद घटा एव मालिन्यं यत्र तदम्बरं, घनं निविडं मलं वर्षवातक्लेदकर्दमादिजन्यं मलं मालिन्यं यत्र तज्जगत् मनाक् ईषत संशोधयन्ती स्वच्छतां नयन्ती, शुभ्राभ्रकरणात् मार्ग जलशोषणाच्च। यद्वा - जगतोऽम्बरंवस्त्रमिवाम्बरं गगन तलं संशोधयन्ती प्रक्षालयन्ती। उद्रिक्तां हर्षोद्रिकवतीं बकमण्डलीं, 'कुः पृथिवी तद्वलयं मण्डलं तस्मात् भूतलात् संवारयन्ती सम्यक् निवारयन्ती, तां गगनगां विदधती। बकपक्षिणः शरदिपंक्तिबद्धा गगने चरन्ति। शिवं शुभं सर्वत्र भयातङ्कादि राहित्येन मनः प्रसादं सम्पादयन्ती विदधती, शरत्प्रभा शरच्चन्द्रज्योत्स्ना, रविरश्मिच्छटा वा , शारदीय सुषमा वा जगत्कल्याणाय विश्व हिताय नवान्नादि सम्पदभिवृद्धिकरणात् विजयतां स्वोत्कर्षमादध्यात्। अत्र प्रकृति सिद्ध शरद्गुण वर्णनात् स्वभावोक्तिः । यद्वा - वर्षाकालोद्भूत शङ्कातङ्कादि निराकरणे शरत्प्रभाया हेतुत्व कथनात् काव्यलिङ्गम्। शार्दूल विक्रीडितञ्च वृत्तम्। लक्षणमुक्तं प्राक्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने वर्षा ऋतु के विगत होने के पश्चात् परम सुहावनी शरदृतु के शुभागमन पर अपनी ओर से स्वागताभिनन्दन पद्य प्रस्तुत किया है। इस पद्य में शरत्प्रभा का अभिवांछित महतोत्कर्ष सूचित किया गया है —

कालाम्बुदालिमाला के मलिन आवरण से उन्मुक्त यह जगत, शुभ्रशरदभ्रपटल के विमान से मण्डित होकर आमोद प्रमोदपूर्ण दृष्टिगोचर हो रहा है। शरत्प्रभा देवी ने अपने स्वच्छ प्रशासन काल में इस भूमण्डल को शङ्का-आतङ्क-कलङ्क-कर्दमादि से सर्वथा विमुक्त कर दिया है। शरदागम के पूर्वकाल में यह मही, वर्षप्रपात-मार्गावरोध-जलप्लावन-करकापात-भूस्खलन- सर्पवृश्चिकादि विषधर जन्तुसञ्चरण - मशकदंश तथा वातश्लेष्म ज्वर- प्रतिश्याय-कास -अग्निमान्द्य- विषूचिका- वातव्याध्यादि अनेक सामयिक रोगों से आक्रान्त थी। सर्वत्र आतङ्क छाया हुआ था, अनेक चोरी हिंसा लूटपाट, कलङ्क सम्भावित रहते थे। कर्दमयुक्त मार्गों में यात्रियों के फिसल जाने की आशङ्का बनी रहती थी। मार्गावरोध वर्षप्रपातादि के कारण मानवों का आवश्यक गमन भी रुक जाता था। अब यह सभी सङ्कट शरदृतु के पदार्पण से शरत्प्रभा देवी के प्रति अपनी ओर से साभार शुभाशंसा प्रकट करते हैं — अपने

शुभ संयोग से इस धराधाम को उक्त सभी अनभिवांछित संकटों से सर्वथा मुक्ति दिलाने वाली, सर्वत्र जलार्द्र भूमि को सुखा कर गमनागमन योग्य कर देने वाली, काले बादलों से मलिन आकाश को स्वच्छ निर्मल कर देने वाली, हर्षोद्रिक्त बक मण्डली को अपने भूमिष्ठ आवासों को छोड़ कर विस्तृत आकाश में समानान्तर बद्ध पंक्ति में स्वच्छन्द विचरण की प्रेरणा देने वाली, भयातङ्कादिनिर्मुक्त जगत के मानवों को योगक्षेम निर्वाहार्थ सामयिक नवान्नादिसङ्ग्रह तथा वर्षाकालीन अन्तरायों से अवरूद्ध स्व स्व कार्यों के पुनःआरम्भ करने का शुभ सन्देश देने वाली, लोक कल्याणार्थ भूतल पर अवतरित होने वाली, शरत्प्रभा अपनी लोकविश्रुत गुणगणावली के माहात्म्य से सर्वत्र विजयोत्कर्ष प्राप्त करती रहे। यद्यपि सभी ऋतुओं का अपना-अपना लोकहितकर महत्त्व है, तथापि वर्षप्रपातादि विघ्नों से अवरुद्ध सामुदायिक विकास कार्यों के पुनरनुष्ठान का सौविध्य, शरत्काल में प्राप्त होता है। चिरप्रतीक्षित सामयिक धान्यों की फलपाकोन्मुखता का जनक शरत काल विशेष रूप से अभिनन्दनीय ही है।

एकान्ते यत्रभावात्सुचरित मतयस्तां हसन्तीं हसन्तीं
सेवन्तेऽन्तः सुतृप्ता भवसुखविमुखास्तेऽपि सन्तो वनान्ते।
कान्तारायानचिन्तां दधति गृहिजनास्तान्तचिन्ता निशान्तात्
हेमन्तो हन्तकान्ते प्रसरति कुटिलो भारते भारतेऽस्मिन् ॥५३॥

व्याख्या— अत्र सूक्तिपद्ये - अरण्यौकसां तपस्विनां विरागिणामपि प्रकृति विरुद्धाचरणं विरोधाभास द्वारा अभङ्ग श्लिष्ट पद द्वयेन प्रकटीकृत्य तन्निदानभूतं हेमन्तकालकौटिल्यं गृहिणाञ्च तदनुल्लङ्घनीयाज्ञत्वं प्रस्तुवन्त्याचार्यपादाः—

यत्रभावात् - यस्य हेमन्तकालस्य प्रभावात् अनिवार्य प्रभुत्वात्, कान्ते कमनीये, भाभिः शोभाभिः रते संयुते भारते, भारत देशे, भरतखण्डे, साकांक्षत्वात् यत्पदस्याहारः। ये सुचरितमतयः, स्वधर्मानुकूलसदाचारेषु मतयो बुद्धयो येषां ते, संयमिन इत्यर्थः। अन्तः सुतृप्ता आत्मानन्देन नित्यतृप्तमनोवृत्तयः, भवसुखविमुखाः, तृप्तान्तःकरणत्वादेव सांसारिक सुखवितृष्णाः, सन्तः सत्पुरुषाः, सन्तीति शेषः। तेऽपि तादृशसत्स्वभावा अपि इदानीं हेमन्त ऋतौ वनान्ते वनमध्ये एकान्ते रहसि निर्जनस्थानवर्तिनि स्वाश्रमे, तां सुपरिचितां हसन्तीं सुप्रसन्नास्यां हसन्तीं पौनः पुन्येऽत्र द्विर्भावः। भूयो भूयः प्रहसन्तीमिति भावः — इमे तपस्विनोऽपि भूत्वा कामवस्थां

गताः इति प्रहसित वदनां व्यञ्जनया काञ्चित स्त्रियं सेवन्ते, रतिसुखमनुभवन्ति। अत्र निष्कामानां कामसेवनमिति विरोधः। तत्परिहारश्च— हसन्तीं निर्गत विस्फुलिङ्ग ज्वालामुखीं हसन्तीमङ्गारधानीं सेवन्ते, शीत निवारणायेतिभावः अथ च गृहिजनाः सस्त्रीकाः पुरुषाः, तान्ता म्लाना चिन्तायेषां ते तादृशाः, भार्या सहायत्वान्निर्गत शीत भीतिवन्त इत्यर्थः। निशान्तात् वातानुकूल भवनात्, निशावसानात् प्राग्या, आसूर्योदयकालात्, कान्तारेषु विपिनोद्यानेषु भ्रमणार्थ, कृष्यादि क्षेत्रेषु च कृष्यादि कार्य सम्पादनाय, प्रातभ्रमण रुचयः, कृषकाः, कर्मकरा वा न यानमयानं गृहाद् बहिर्गमनं तच्चिन्तां तद्विचारं दधाति मनसि धारयन्ती। शीतभीतिवशात् स्वगृहाभ्यन्तर एव ते भार्यासहाया निशां गमयन्तीति भावः। यतो हि- कुटिलः क्रूरस्वभावो हेमन्तः हिमकालः प्रसरति, सर्वत्र स्वप्रसारं करोति। अत्र गृहस्थवनस्थयो रागिविरागिणो समानतया सकामत्वमाविर्भावयतो हेमन्तस्य कौटिल्यमेवैतदिति हन्तेति विस्मयादौ। यद्वा - कान्ते! इति कामिनीं सम्बोध्य कस्यचित कामुकस्योक्तिरियम् - आवामपि हेमन्त काल सुलभमानुकूल्यमवाप्य कुचोष्मतापनिर्वापितशैत्यौ भूत्वा सुखं विहराव इति।

साभिप्रायोक्त्यात्रपरिकरालङ्कारो बोध्यः विरोधाभासश्च। वनस्थ गृहस्थयोः समं शीतार्ति दाने हेमन्तस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गञ्च। स्त्रग्धरा वृत्तञ्चात्र - म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनि यतियुता स्त्रग्धराकीर्तितेयम्, इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद ने प्रकृत सूक्तिपद्य के द्वारा अभङ्ग शिलष्ट पदाभिव्यक्त विरोधाभास से अरण्यवासी जितकाम तपस्वी वनस्थ यतिजनों का हेमन्तकाल प्रयुक्त प्रकृति विरुद्धाचरण प्रदर्शित कर, रागी, विरागी, गृहस्थ, वनस्थ, मानवों पर समान रूप से शीत ऋतु हेमन्त का अप्रतीकार्य प्रभुत्व प्रस्तुत किया है — स्वधर्म मर्यादित सुरम्य भारत देश में अब सर्वत्र शीतभीतिप्रद कुटिल हेमन्त ऋतु का प्रसार है। हेमन्तकाल के अनिवार्य प्रभाव से अकाम, सकाम, सभी मानव अपनी मर्यादायें त्याग कर समान रूप से कामसेवन में संलग्न हो गये हैं। तपोवन में निवास करने वाले, आत्मानन्द तृप्त, भवसुख विमुख त्यागी तपस्वी संयमी सन्तजन भी कठोर तपव्रत त्याग कर इस समय अपने आश्रमैक देश एकान्त स्थान में हसन्ती (उद्गत्विस्फुलिङ्ग वन्हि-ज्वालामुखी) हसन्ती (अङ्गारधानी-अंगीठी) को सेवन करते हैं। यह कलिकालगत हेमन्त की धर्म निरपेक्षता ही है कि जो सर्वत्र सर्वकाल सर्वधर्मसमभाव की ही पक्षधर है। दूसरी और मन्मथाविष्ट गृहीजन रात्रिभर कान्तासहाय बने रह कर सूर्योदयकाल तक घर से बाहर कहीं भी जाने की बात तक नहीं सोचते। यह कैसी हेमन्तकाल की विस्मयपूर्ण विडम्बना है - अथवा कोई कामुकजन अपनी प्रमदा के समक्ष कान्ते! सम्बोधन करके अपनी अभिलाषा प्रकट करता है कि हेमन्तकाल के आदेश का पालन, जब गृहस्थ वनस्थ यतिजन

सभी समान रूप से कर रहे हैं, तब हम तुम दोनों उस हेमन्त काल का अनुशासन भङ्ग क्यों करें कि जिसने हमें सामयिक अनुकूलता प्रदान की है। अतः हम भी कुचोष्मतापनिर्वापितशैत्य होकर प्राकृतिक अङ्गारधानियों का भरपूर उपयोग करके यथा सुख विहार क्यों न करें। यह हेमन्त काल बड़ा क्रूर स्वभाव हैं। कदापि अनुशासन भङ्गजनित अपराध को क्षमा नहीं करेगा।

रामेन्दुखद्विमित विक्रमपार्थिवाब्दात्
पूर्वं हि या विरचिता ननु सूक्त्यस्ताः।
तोषाय सूक्तिलहरीत्यभिधानवत्या-
मस्यां कृतौ रसविदां खलु सङ्गृहीताः ॥५४॥

व्याख्या— अत्र पद्ये - पृथक पृथकविरचितानां सूक्तिपद्यानामेकत्र समायोजनमत्र सूक्ति लहरी विहितमित्यवगमयन्त्याचार्यपादाः —

अङ्कानां वामतो गतिरित्यनुशासनात् - २०१३ मितात् परिमितात् विक्रम पार्थिवाब्दात् नृपति वीर विक्रमादित्य राज्य संवरात् पूर्वं प्राक् याः सूक्तयः सूक्तिपद्यानि, सूक्तिलहरी - सूक्तिमञ्जरीत्यभिधानवत्यां पूर्व प्रकाशितायां कृतौ विरचितास्ता एव रसविदां सहृदय भावुकानाम् ननु निश्चयेन तोषाय काव्य रसानन्दोपलम्भाय अस्यां कृतौ सूक्तिमञ्जूषाभिधानायां स्वरचनायां सङ्गृहीताः खलु समायोजिताः सन्तिमयेति शेषः। वसन्ततिलका वृत्तम्। उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः इति तल्लक्षणात्।

भावार्थ— प्रकृत श्लोक के द्वारा श्री आचार्यपाद अपनी सूक्तिमंजूषा का उपसंहार करते हुए पाठकों को विशेष जानकारी सूक्तिपद्यों की रचना के सम्बन्ध में दे रहे हैं — पृथक् पृथक् सूक्तिपद्यावली का रसज्ञ सहृदयों के आनन्द के लिए ही एकत्र समायोजन वर्तमान कृति सूक्तिलहरी में कर दिया गया है। इन सूक्तिपद्यों का पूर्व भाग, विक्रम संवत् २०१३ से पूर्वकाल में लिखा गया था। लौकिकालौकिक विविध विषयचार्यी, यह सूक्तिलहरी अवश्य ही रसज्ञ विद्वज्जनों के मनोरञ्जन के साथ भारतीय मानवोचित सदाचार व्यवहारादि की शास्त्रीय दिग्दर्शिका सिद्ध होगी, इस विश्वास के साथ श्री आचार्यपाद अपनी रम्यकृति का उपसंहार करते हैं।

स्वनिर्मितानां सूक्तीनां मञ्जूषैषा विदां करे।
समर्पयति सस्नेहमाचार्योऽमृतवाग्भवः॥५५॥

व्याख्या— अत्रानुष्टुब्वृत्त पद्येनाचार्यपादाः स्वरचितामिमां सूक्तिमञ्जूषाभिधानां रसभाव विद्भ्यः सहृदयेभ्यः सस्नेहमानन्दानुभूत्यै समर्पयन्ति—

श्री अमृत वाग्भवाचार्य महानुभावः सूक्ति लहरी रचनाकारः, स्वनिर्मितानां सूक्तीनामेषा मञ्जूषा पेटिका, विदां सूक्ति पद्यार्थाभिव्यक्त रसभावादि विज्ञानां सहृदयानां, करे हस्ते सस्नेहं सप्रेम समर्पयति, तत्तोषायेति भावः। अत्र समर्पयतीतिक्रिया मञ्जूषागत कर्मत्वमपेक्षते। तथापि विषवृक्षोऽपि संवर्ध्येतिवत् तत्रार्थं कर्मत्वं बोध्यम्। यद्वा - मञ्जूषैषा वर्तते तामित्यध्याहार्यम्। इति अमृतवाग्भवाचार्य रचित सूक्ति मञ्जूषा संक्षिप्त संस्कृत व्याख्या समाप्तिमगात्।

भावार्थ— श्री आचार्यपाद समर्पण वाक्य अनुष्टुब्वृत्त पद्य के द्वारा स्वनिर्मित सूक्तिमञ्जूषा कृति का समर्पण, काव्यरसज्ञ सहृदय विद्वज्जनों के लिये करते हैं —

सुप्रसिद्ध आचार्य अमृतवाग्भवाभिधान समलंकृत रचनाकार के द्वारा विरचित यह सूक्तिमञ्जूषा, रसिक सहृदय विद्वानों के कर कमलों में स्नेहपूर्वक समर्पित की जाती है। शुभम्।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र महामहिम श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यविरचित सूक्तिमञ्जूषा की संक्षिप्त संस्कृत-हिन्दी व्याख्या समाप्त।

•

अथात्र व्याख्या समर्पणवाक्यम्

सुतत्रये सरस्वत्याः सरस्वान् प्रथमः सुतः
द्वितीयः कालिदासोऽभूत् तृतीयोऽमृतवाग्भवः॥

श्रीमदाचार्यचरणैरित्थमन्वर्थनामभिः
प्रणीता सूक्तिमञ्जूषा भूयाद् रसविदां मुदे॥

वीरेश्वरस्यचार्यस्या ग्रहादेव यथामति
तदर्थमनुसन्धाय विहिता सरला मया॥

संक्षिप्त संस्कृत व्याख्या सूक्तिपद्यार्थ सम्भृता
अमृतत्वमवाप्तेभ्यस्तेभ्य एवार्प्यतेऽधुना॥

स्वभावसुलभाश्चात्र त्रुटयः सम्भवन्ति हि
दोषज्ञैस्ताः समाधेया विद्वद्भिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

समर्पकः
आचार्य शिवप्रसादो वासिष्ठ
नरौरा (बुलन्दशहर) उ.प्र.

फाल्गुन शु. एकादशी, बुधवार
दि. १९-०३-१९९७
सं. २०५३ वि.।

